समरथ

मई-जून 2007 ◆ नई दिल्ली

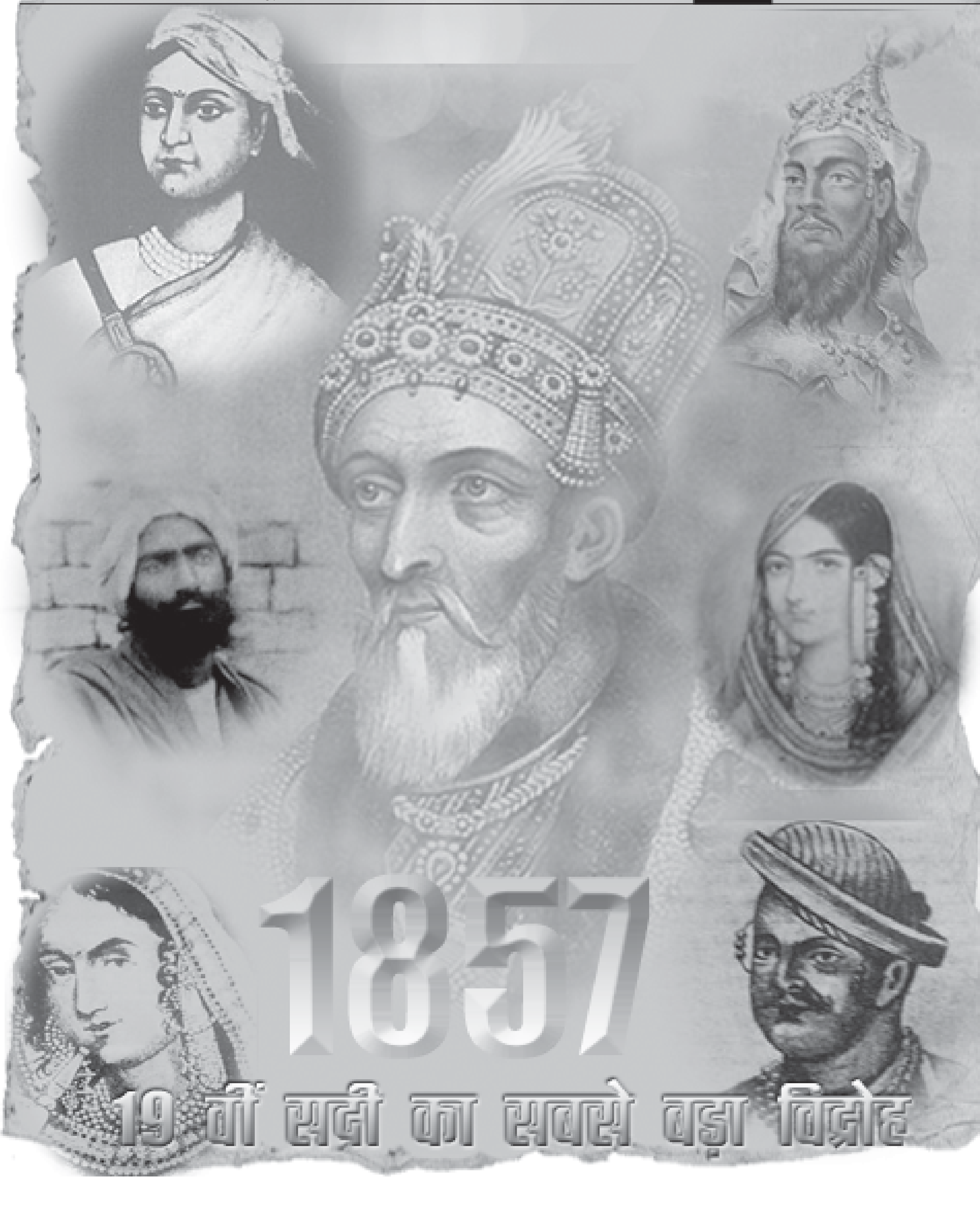

नाहि तो जनम नसाई

"मत सहल[1] हमें जानो, फिरता है फ़लक बरसों–तब ख़ाक के परदे से इंसान निकलते हैं" (मीर तकी मीर)। सचमुच इंसान हमेशा नहीं पैदा होते। ग़ालिब ने कहा है, "आदमी को भी मय्यस्सर नहीं इंसां होना"। लेकिन आदमी फिर भी आदमी है। इस ज़मीन पर तमाम जीवों में सर्वश्रेष्ठ आदमी ही है जो अनेकों रूप दिखाता है और अनेकों किरदार अदा करता है। अच्छाई-बुराई, नेकी-बदी चाहे वो जिस रूप में हो, करने वाला आदमी ही है। इन सीमाओं को लांघना आदमी के बस का रोग नहीं। हां इंसान बन जाने पर शायद आदमी इन सीमाओं से शायद कुछ ऊपर उठ जाता हो। लेकिन यहां हम आदमी (जिसमें महिला और पुरुष दोनों ही शामिल हैं) की बात कर रहे हैं। नज़ीर अकबराबादी आदमी भी हैं और इंसान भी। इंसानों के बीच इंसान और आम आदमियों के बीच आम आदमी। एक महाकवि के रूप में ये इंसान तमाम इंसानी समस्याओं पर विश्लेषणात्मक दृष्टि डालता है लेकिन आदमियों के बीच आदमी बनकर। उनका एक हिस्सा बनकर। वरना संभव नहीं कि 18वीं शताब्दी का कोई कवि अपने सरोकार में आदमीनामा, रोटियां, चपाती, आटे-दाल का भाव, कलजुग, मुफ़लिसी, बचपन, जवानी, बुढ़ापा, बहार, चांदनी, बरसात की बहारें, फ़िसलन, झोंपड़ा, बंजारानामा, होली, दीवाली, आगरे की तैराकी जैसे असंख्य रोज़मर्रा की समस्याओं, त्यौहारों और वास्तविकताओं को अपनी कविताओं के विषय बनाए। 18वीं शताब्दी का यदि शेष काव्य देखा जाए, जो कि नज़ीर की तुलना में काव्य का समुद्र है लेकिन कहीं ये रोज़मर्रा के सरोकार नज़र नहीं आते। और यदि आते भी हैं तो कभी कभार। नज़ीर एक जनकवि हैं सच्चा और शायद इसीलिए अकेला जनकवि जो आमजन और उनकी समस्याओं से दूर रह ही नहीं सकता। उनके कांधे से कांधा मिलाकर चलता है लेकिन कटाक्ष करने से भी नहीं चूकता। जनकवि है इसलिए उसे जनता के बीच ही पहुंचना है। वह जनता को अपने पास नहीं बुलाता क्यों वह जनता को अपना समझता तो है लेकिन बराबरी से। हां उनके बीच पहुंचकर काव्य रस बिखेरना और साथ-साथ सामाजिक संदेश भी पहुंचा देना अपना कर्तव्य समझता है। आदमी नामा उसकी एक जीती जागती मिसाल है। आदमी के कितने रूप हो सकते हैं और जो कुछ भी घटता है वह आदमियों के ही हाथों घटता है, कैसे घटता है और क्यों घटता है इन सब की तस्वीर खींचती है नज़ीर की आदमी नामा। आदमी तब भी ऐसा था और आज 21वीं शताब्दी में भी वैसा ही है और शायद भविष्य में भी ऐसा ही देखने को मिले क्योंकि यदि सारे आदमी इंसान बन गए तो दुनिया एकरंगी भी दिखने लग सकती है। हां इसका अर्थ यह न लगाया जाए कि आदमी इंसान ही न बने। जहां ग़ालिब "आदमी को भी मय्यस्सर नहीं इंसां होना" कहते हैं वहीं आतिश मानते हैं "शेख़ हो या कि बिरहमन हो पर इंसां होवे"।

1. सहल--आसान

आदमी नामा

दुनिया में पादशह है सो है वह भी आदमी
और मुफ़लिस-ओ-गदा है सो है वो भी आदमी
ज़रदार बेनवा है सो है वो भी आदमी
निअमत जो खा रहा है सो है वो भी आदमी
टुकड़े चबा रहा है सो है वो भी आदमी

अब्दाल कुत्ब ग़ौस[1] वली आदमी हुए
मुनकिर[2] भी आदमी हुए और कुफ़्रके[3] भरे
क्या-क्या करिश्मे कश्फ़-ओ-करामत के लिए
हत्ता[4] कि अपने ज़ोहद[5]-ओ-रियाज़त[6] के ज़ोर से
ख़ालिक़ से जा मिला है सो है वो भी आदमी

फ़िरऔन[7] ने किया था जो दावा खुदाई का
शद्दाद[8] भी बहिश्त बनाकर हुआ खुदा
नमरूद[9] भी खुदा ही कहाता था बरमला
ये बात है समझने की आगे कहूँ मैं क्या
यां तक जो हो चुका है सो है वो भी आदमी

यां आदमी ही नार[10] है और आदमी ही नूर
यां आदमी ही पास है और आदमी ही दूर
कुल आदमी का हुस्न-ओ-क़बह[11] में है यां ज़हूर
शैतां भी आदमी है जो करता है मक्र-ओ-ज़ोर
और हादी[12] रहनुमा है सो है वो भी आदमी

मसजिद भी आदमी ने बनाई है यां मियाँ
बनते हैं आदमी ही इमाम[13] और खुतबाख़्वाँ[14]
पढ़ते हैं आदमी ही कुरआन और नमाज़ यां
और आदमी ही उनकी चुराते हैं जूतियाँ
जो उनको तोड़ता है सो है वो भी आदमी

यां आदमी पै जान को वारे है आदमी
और आदमी पै तेग़ को मारे है आदमी
पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी
और सुनके दौड़ता है सो है वो भी आदमी

चलता है आदमी ही मुसाफ़िर हो लेके माल
और आदमी ही मारे है फाँसी गले में डाल
यां आदमी ही सैद[15] है और आदमी ही जाल
सच्चा भी आदमी ही निकलता है मेरे लाल
और झूठ का भरा है सो है वो भी आदमी

यां आदमी ही शादी है और आदमी ही ब्याह
क़ाज़ी वकील आदमी और आदमी गवाह
ताशे बजाते आदमी चलते हैं ख़्वामख़ाह
दौड़े हैं आदमी ही तो मिशअल जला के राह
और ब्याहने चढ़ा है सो है वो भी आदमी

यां आदमी नक़ीब हो बोले है बार-बार
और आदमी ही प्यादे हैं और आदमी सवार
हुक़्क़ा सुराही जूतियाँ दौड़ें बग़ल में मार
काँधे पै रख के पालकी हैं दौड़ते कहार
और उसमें जो पड़ा है सो है वो भी आदमी

बैठे हैं आदमी ही दुकानें लगा-लगा
और आदमी ही फिरते हैं रख सर पै ख़ोंचा
कहता है कोई “लो” कोई कहता है “लारे, ला”
किस-किस तरह की बेचें हैं चीज़ें बना-बना
और मोल ले रहा है सो है वो भी आदमी

तबले मजीरे दायरे सारंगियाँ बजा
गाते हैं आदमी ही हर इक तरह जाबजा
रंडी भी आदमी ही नचाते हैं गत लगा
और आदमी ही नाचे हैं और देख फिर मज़ा
जो नाच देखता है सो है वो भी आदमी

यां आदमी ही लाल-ओ-जवाहर हैं बेबहा
और आदमी ही ख़ाक से बदतर है हो गया
काला भी आदमी है कि उलटा हो जूं तवा
गोरा भी आदमी है कि टुकड़ा है चाँद का
बदशक्ल बदनुमा है सो है वो भी आदमी

इक आदमी हैं जिनके ये कुछ ज़र्क़ बर्क़[16] हैं
रूपै के जिनके पाँवँ हैं सोने के फ़र्क़[17] हैं
झमके तमाम ग़र्ब[18] से ले ता-ब-शर्क़[19] हैं
किमख़्वाब ताश शाल दोशालाओं में ग़र्क़ हैं[20]
और चीथड़ों लगा है सो है वो भी आदमी

हैरान हूँ यारो देखो तो क्या से सवाँग है
और आदमी ही चोर है और आपी थांग[21] है
है छीना-झपटी और कहीं बांग तांग[22] है
देखा तो आदमी ही यहाँ मिस्ले-राँग[23] है
फ़ौलाद से गढ़ा है सो है वो भी आदमी

मरने में आदमी ही कफ़न करते हैं तयार
नहला-धुला उठाते हैं काँधे पै कर सवार
कल्मा भी पढ़ते जाते हैं रोते हैं ज़ार-ज़ार
सब आदमी ही करते हैं मुर्दे के कारोबार
और वो जो मर गया सो है वो भी आदमी

अशराफ़ और कमीने से ले शाह ता वज़ीर
ये आदमी ही करते हैं सब कारे दिलपज़ीर
यां आदमी मुरीद है और आदमी ही पीर
अच्छा भी आदमी ही कहाता है नज़ीर
और सबमें जो बुरा है सो है वो भी आदमी

संदर्भ

1. बड़े-बड़े वली, पहुँचे हुए फ़कीर 2. नास्तिक 3. नास्तिकता से भरे 4. यहाँ तक 5. पूजा पाठ 6. तपस्या 7, 8, 9. 10. आग 11. भलाई-बुराई 12. हिदायत देने वाला पथप्रदर्शक 13. नमाज पढ़ाने वाला, नेता 14. खुतबा पढ़ने वाला 15. शिकार 16. तड़कीले-भड़कीले 17. जूते 18., 19. पश्चिम से लेकर पूरब तक 20. डूबे हैं 21. चारों को पनाह देने वाला 22. तू-तकार 23. राँगे की भाँति

साभार : नज़ीर की बानी

धर्म, संस्कृति और साम्प्रदायिकता

आखिर धर्म की आलोचना क्यों नहीं?

■ **गोरख पांडेय**

''असल में धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता एक साथ नहीं चल सकते। धर्म एकांगीपन, संकीर्णता और साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति अपने में समाये हुए हैं। धार्मिक चेतना मुक्ति का आभास और पराधीनता का यथार्थ बन जाती है।''

भौतिक स्तर पर दंगों में और वैचारिक स्तर पर एकांगीपन, संकीर्णता और नफरत की प्रवृत्तियों में व्यक्त होने वाली साम्प्रदायिकता की सही आलोचना उस सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक ढांचे की आलोचना के बिना सार्थक नहीं हो सकती, जिसमें वह पनपती और बढ़ती है। प्रायः देखा यह जा रहा है कि जो लोग साम्प्रदायिकता की आलोचना करते हुए उनके स्रोतों की ओर निगाह डालने की कोशिश करते हैं, वे भी कुछ खुले साम्प्रदायिकता-राजनीतिक संगठनों की आलोचना करके छुट्टी पा लेते हैं। धर्म तो इस आलोचना के दायरे से बाहर ही रखा जाता है। धर्म के बारे में यह दृष्टिकोण फैलाया गया है कि वह आध्यात्मिक गौरव की अभिव्यक्ति है, पारलौकिक सत्य का दर्पण है, सबसे प्रेम करना सिखाता है, उसे साम्प्रदायिकता से कुछ लेना-देना नहीं। लेकिन जब साम्प्रदायिकता धर्म को ही प्रत्यक्ष आधार बनाती है तो देखना होगा कि कहीं एकांगीपन और संकीर्णता धर्म की संरचना में ही निहित तो नहीं है? कहीं बुद्धि को ताक पर रख कर महज भावना से काम लेने की प्रवृत्ति धर्म में ही मौजूद तो नहीं है? अगर है तो साम्प्रदायिकता का विकास खास परिस्थितियों में धर्म की निहित प्रवृत्ति का ही विकास तो नहीं है?

इस सिलसिले में धर्म की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर ध्यान दिया जा सकता है :

1. धर्म हजारों साल से वर्गों और वर्णों में विभाजित समाज के आध्यात्मिक कवच का काम करता आ रहा है। अभाव, दुख और पराधीनता की शिकार आम जनता के लिए वह आशा का केन्द्र-बिन्दु रहा है। जब तमाम श्रम करने के बावजूद जनता इस समाज में सुख और मुक्ति का कोई उपाय नहीं देखती और विरोधी प्राकृतिक तथा सामाजिक शक्तियों के सामने असहाय महसूस करती है, तब एक ऐसे लोक की कल्पना करने और उसमें रमने के लिए मजबूर होती है, जहां सुख और स्वतन्त्रता की अतिरंजित सम्भावनाएं मौजूद हों। असहाय आदमी की सारी वंचित इच्छाएं, सारी उम्मीदें, सारे सपने धार्मिक चेतना में केन्द्रित हो उठते हैं। इस चेतना पर किसी तरह का प्रहार जीवन की सारी वांछित इच्छाओं, उम्मीदों, विश्वासों और सपनों के केन्द्र बिन्दु पर, और इस तरह समूचे जीवन पर ही, प्रहार लगता है। यह स्थिति भारी उत्तेजना और आवेश पैदा करने के लिए काफी होती है। अब अगर किसी समुदाय की धार्मिक भावना को दूसरे समुदाय के खिलाफ प्रेरित करते हुए कहा जाए कि यह तुम्हारी इच्छाओं, उम्मीदों, विश्वासों और सपनों के केन्द्र पर हमला कर रहा है तो उस समुदाय को, और इस तर्क के आधार पर दोनों समुदायों को, भावनात्मक उत्तेजना और उन्माद की उस स्थिति तक ले जाया जा सकता है, जहां उसे जीवन के मूल भौतिक रूप का संहार करने वाले दंगे में बदला जा सके।

इससे जुड़े एक दूसरे पहलू पर विचार करें। धर्म आम तौर पर इन्द्रिय-ज्ञान, बुद्धि और तर्क की पद्धति का निषेध करता है। वह एक ऐसे सत्य की उपलब्धि का दावा करता है, जो भाषा, ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि की सीमाओं से परे है। इसका सारा जोर अन्तर्ज्ञान और भावना पर होता है। वह सन्देह की नहीं, विश्वास की मांग करता है। वह स्वतन्त्र विचार की नहीं, समर्पण की मांग करता है। ऐसा नहीं कि धर्म के संस्थापक और धर्म-शास्त्री बुद्धि का उपयोग नहीं करते। वे करते हैं। विज्ञान का जोर बढ़ते देखकर कई धर्म-शास्त्री कहने लगे हैं कि उनका धर्म विज्ञान पर आधारित है। लेकिन प्रत्यक्ष ज्ञान और विज्ञान के ज़रिए इस संसार से परे रहने वाली किसी सचेतन शक्ति अथवा परलोक की मान्यता का समर्थन करना असम्भव है। इसलिए जब विज्ञान और अनुभव पर आधारित ज्ञान, धर्म की मान्यताओं पर प्रश्न-चिन्ह लगाता है तो वे अबुद्धिवाद और रहस्यवाद की गोद में चले जाते हैं। अब गौर कीजिए कि अगर धर्म एक तरफ अनुभव और बुद्धि का निषेध करता है और दूसरी तरफ इच्छाओं, भावनाओं और सपनों में संगठित होता है तो बुद्धि और विवेक के अनुशासन से एकदम रहित भावनाओं और सपनों में संगठित होता है तो बुद्धि और विवेक के अनुशासन से एकदम रहित भावनाओं के इस पुंज को उत्तेजना और उन्माद तक उठा ले जाना कितना आसान हो सकता है।

2. कई धर्म हैं। समकालीन दुनिया में ये सब समानान्तर

सक्रिय हैं। इन सब में स्वर्ग की कल्पना समान रूप से मौजूद है। बौद्ध धर्म को छोड़ कर लगभग सब में ईश्वर की धारणा भी मौजूद है। लेकिन ईश्वर, देवी-देवता, स्वर्ग और कर्म-काण्ड की धारणाएं तथा विधियां सबकी अलग-अलग हैं। ये धर्म जिन भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से जन्मे हैं, उनसे प्रतिमाएं, कल्पनाएं, मूल्य, विश्वास और रीति-रिवाज लेकर आए हैं। उदाहरण के लिए विश्व की उत्पत्ति से सम्बन्धित धारणा को लीजिए। वेदों में उत्पत्ति की कई धारणाएं हैं। कहीं जल को मूल तत्व माना गया। कहीं अण्ड को और कहीं ब्रह्म या फिर आत्मा को। पौराणिक काल से उपनिषदों वाले निराकार ब्रह्म की जगह निश्चित रूप-रेखा वाले ब्रह्मा विश्व के जनक बन जाते हैं। बुद्ध के अुनसार संसार की उत्पत्ति अविद्या से हुई। बाइबिल में ईश्वर ने गिन कर सात दिनों में सारे विश्व की रचना की। यह एक उदाहरण इस तथ्य का प्रमाण देने के लिए काफी है कि सारे धर्म, धारणाओं, विश्वासों और कर्म-काण्डों का अलग ढांचा रखते हैं और एक ही धर्म के भिन्न सम्प्रदाय परस्पर काफी भेद रखते हैं। ये अनुभव, बुद्धि और प्रयोग की इजाजत नहीं देते कि इनकी धारणाओं की जांच की जाए और विज्ञान की तरह किसी सार्वभौम निष्कर्ष पर पहुंचा जाए। ये अपने अनुयायियों से अपने-अपने मत को उसी रूप में स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। तब स्वाभाविक है कि एक धर्म दूसरे धर्म की भिन्न धारणाओं के प्रति सन्देह, उपेक्षा और निषेध का रुख अपनाएगा। इस तरह धर्म परस्पर एकांगीपन, संकीर्णता और इस हद तक साम्प्रदायिकता का दृष्टिकोण बनाए रखते हैं।

यह साम्प्रदायिक रुख वहां और खुल कर सामने आता है जहां धर्म अपने प्रति सम्पूर्ण समर्पण की मांग करते हैं। बुद्ध के अनुयायी उनके धर्म और संघ की शरण में जाते हैं। इसके जवाब में गीता के कृष्ण अपने अनुयायियों को निर्देश देते हैं कि सारे धर्म छोड़ कर मेरी शरण में आओ। यहूदियों का ईश्वर दूसरे कबीलों के देवी-देवताओं के प्रति भारी ईर्ष्या का भाव रखता है और अगर इसका कोई अनुयायी (यहूदी) दूसरे देवता की प्रार्थना करता है तो वह (ईश्वर) नाराज होकर खुद उसे दूसरे कबीले के हाथों गुलाम के रूप में बेच देता है। ईसा मसीह उत्पीड़ित मानवता को सम्बोधित करते हैं, लेकिन उनका आग्रह भी यही है कि अनुयायी उनके पीछे चलें क्योंकि उनके द्वारा दिखाया गया रास्ता ही मुक्ति का रास्ता है। इसलाम में काफिरों के लिए कोई जगह नहीं है। यह पूर्ण आस्था और समर्पण की मांग दूसरे धर्म के प्रति पूर्ण अनास्था और निषेध का रुख ले लेती है। धर्मों का यह परस्पर निषेधी रुख साम्प्रदायिकता में बदल जाता है।

3. एकांगीपन धर्म की आन्तरिक संरचना में निहित है। वेद, बाद का सनातन धर्म और उसके बाद का हिन्दू धर्म, श्रम और वर्ग विभाजन पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को मान कर चलता है। यहूधी धर्म सिर्फ यहूदियों के लिए है, दूसरों के लिए नहीं। बौद्ध धर्म वर्ण-व्यवस्था को जरूर नकारता है, लेकिन कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत मानकर उसे दूसरी तरफ से स्वीकार भी कर लेता है। ईसाई धर्म मानवता को और खास तौर से गुलामों को सम्बोधित है। लेकिन वहां भी समान स्तर पर ईश्वर और रोम के बादशाह की स्वीकृति है और कहा गया है कि इनका देय इन्हें दें। इसके अलावा सभी धर्मों में पाई जाने वाली दो लोकों की कल्पना इस लोक में मौजूद वर्ग-विभाजन की अभिव्यक्ति तो है ही, इसे मजबूत भी करती है। यह कल्पना ऐसे समाज की उपज है, जिसमें सारा अभाव, दुख, विपदा और पराधीनता एक हिस्से में है और सारा सुख, सम्पदा और स्वाधीनता दूसरे हिस्से में है। यह विभाजन बरकरार रहेगा। हिन्दू धर्म का, इन्द्र के शासन में चलने वाला कल्प वृक्ष, अप्सराओं और किन्नरों वाला, ऊँच-नीच के विभाजन से भरा, स्वर्ग जहां नहीं है, वहां भी स्वर्ग का शासन करने वाली शक्ति कोई मानवेतर या ईश्वरीय शक्ति ही है। ईश्वर इस दुनिया के सम्राट की तर्ज पर उस दुनिया का एकछत्र मालिक है। मनुष्य वहां भी पराधीन है। कुछ इन्हीं अर्थों में सार्त्र ने कहा था कि अगर ईश्वर है तो मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। क्योंकि फिर मनुष्य के आदि और अन्त का सारा कार्यक्रम उसने तय कर दिया है। चूंकि मनुष्य स्वतन्त्र है या स्वतन्त्र होने की सम्भावना रखता है, इसलिए ईश्वर नहीं है। बहरहाल, धार्मिक चेतना व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधीन खण्डित सामाजिक यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है, जो मुक्ति की आशा जगाती है, मगर इस जीवन में उसे असम्भव मान कर पराधीनता पैदा करने वाली आंशिक सामाजिक शक्तियों का आध्यात्मिक औजार बन जाती है। वह मुक्ति का आभास और पराधीनता का यथार्थ बन जाती है।

इस मायने में देखें तो धर्म एकांगीपन, संकीर्णता और साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति अपने से समोये हुए है। वह मानव-जाति की सार्वभौम समानता और उसे यथार्थ बनाने का कोई वास्तविक मार्ग नहीं बताता। लेकिन यहां हमें यह भी देखना होगा कि धर्म की चेतना उस यथार्थ का महज एक प्रतिबिम्ब है, जो मानव-जाति की सार्वभौमिकता और मुक्ति का निषेध करता है। यानी, धर्म की वास्तविक आलोचना उस समाज की आलोचना है, जिसमें इस तरह का खण्डित और कल्पनिक प्रतिबिम्ब सम्भव होता है। विभाजन और विषमता पर आधारित समाज की बुनियादी आलोचना किए बगैर और उसे समता और स्वतन्त्रता पर आधरित समाज में बदलने के लिए संघर्ष किए बगैर धर्म की इस खण्डित चेतना और इसके साम्प्रदायिक रूप से मुक्त हो पाना सम्भव नहीं है।

मेरे यह कहने का आशय कतई नहीं कि धर्म और साम्प्रदायिकता एक ही चीज है या धर्म का उपयोग कभी मानव-मुक्ति के लिए नहीं किया गया है। साम्प्रदायिकता धर्म की एक निहित प्रवृत्ति जरूर है, लेकिन उसे दूसरे समुदाय के खिलाफ संचालित करके मार-काट की स्थिति तक ले जाना धर्म की एक प्रवृत्ति को पूरा धर्म बना देना है। यह एक भिन्न स्थिति है, जिसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। इसके अलावा धर्म में मानव

की पीड़ा और मुक्ति की आकांक्षा व्यक्त होती है, जिसे कई बार उत्पीड़ित तबकों ने अपने वास्तविक सामाजिक संघर्ष में इस्तेमाल किया है। कबीर धर्म का इस्तेमाल इसी रूप में करते हैं। ईसा मसीह ने इसी रूप में किया था। नानक ने श्रम और समता पर जोर दिया था। मीरा ने सामन्ती और पितृसत्तात्मक समाज के खिलाफ अपने विद्रोह को धार्मिक स्वर दिया था। आजकल अमेरीकी नवउपनिवेशवाद के खिलाफ लातीनी अमेरीका में चल रहे वामपन्थी और जनवादी संघर्षों की कतार में ईसाइयों का एक हिस्सा शामिल है।

लेकिन मार्के की बात यह है कि धार्मिक चेतना का रूप ग्रहण करने वाले पुराने सारे विद्रोह वर्ग विभाजन की तत्कालीन सीमाओं में विसर्जित हो गए। आज अगर धार्मिक चेतना से लैस कोई सामाजिक समूह या व्यक्ति सामाजिक मुक्ति के संघर्ष में शामिल है तो इसकी एक वजह यह है कि सामाजिक और मानवीय मुक्ति के संघर्ष में अगुआई करने वाली नई विचार-धाराओं और नये संगठनों से उसने अपने को जोड़ा है। धर्म इस समय मुक्ति-संघर्ष की दूसरी कतार में ही कहीं-कहीं सक्रिय है। आम तौर पर इसका उपयोग विभाजन, विषमता, उत्पीड़न और पराधीनता को कायम रखने वाली शक्तियां कर रही हैं। भारत के स्वतन्त्रता आंदोलन के दौरान अंग्रेज जब कभी सिख समुदाय या मुस्लिम समुदाय को शह देते थे तो इसका कारण उनकी धार्मिकता नहीं, बल्कि भारतीय जनता में फूट डालने और स्वतन्त्रता आन्दोलन को विभाजित और कमजोर करने की उनकी चाल थी। बिड़ला के तमाम मन्दिर उनकी धार्मिकता की बजाय उनकी पूंजी की सत्ता को गौरव और औचित्य प्रदान करते हैं। कांग्रेस में इस दौरान फूट पड़ी गंगा-धारा सत्ता में बने रहने का उसका एक साधन है। अकाली दल या मुस्लिम लीग की राजनीति अपने-अपने समुदाय को धर्म के नाम पर उत्तेजित करके निश्चित राजनीतिक और आर्थिक क्षमता हासिल करने का तरीका है। हमारे शासक-वर्ग ने धर्मनिरपेक्षता को सर्व-धर्म समभाव से गुजार कर साम्प्रदायिकता की ओर मोड़ दिया है। वह देश को विभाजन और दमन की ओर भी गंभीर परिस्थितियों में ले जा रहा है।

धर्मनिरपेक्षता क्या है? क्या यह सर्व-धर्म समभाव है? क्या आप धार्मिक भी बने रह सकते हैं और धर्मनिरपेक्ष भी? कोई भी धार्मिक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह सर्व-धर्म समभाव के अर्थ में धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि उसका अपना एक धर्म है और उसके लिए दूसरे धर्म पराये हैं। असल में धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता एक साथ नहीं चल सकती। यूरोप के आधुनिक इतिहास पर गौर करें तो पाएंगे कि वहां इसकी धारणा सीधे धर्म के विरोध में विकसित हुई। दूसरे लोक की कल्पना को नकारना और इस लोक या यथार्थ को इसी के नियमों के आधार पर व्याख्यायित करना चिन्तन का इहलोकीकरण (सेक्युलराइजेशन) माना गया। इस अर्थ में धर्मनिरपेक्षता चिन्तन की वह प्रवृत्ति है, जो विज्ञान और बुद्धिवाद के आधार पर विकसित होती है, अनुभव, तर्क और प्रयोग पर बल देती है और धार्मिक चिन्तन की अबौद्धिक पारलौकिकता का निषेध करती है। इसके साथ यूरोप के इतिहास का यह तथ्य भी जुड़ा हुआ है कि मध्य युग में राज्य के ऊपर धर्म (चर्च) की स्थापित सत्ता को चुनौती देना और राज्य के समस्त इहलौकिक क्रियाकलाप से धर्म को अलग कर देना भी क्रमशः धर्मनिरपेक्षता का एक रूप बन गया। धर्मनिरपेक्षता राज्य के एक गुण के रूप में विकसित हुई, जिसके अनुसार वह धर्म को व्यक्तिगत सरोकार मानेगा, सामाजिक संबंधों से धर्म को अलग करेगा और धर्म के आधार पर किसी को विशेषाधिकार प्रदान नहीं करेगा। इसका आशय यह भी है धर्मनिरपेक्ष राज्य अपनी विचारधारा निर्मित और प्रचारित करेगा, बुद्धि और तर्क को प्रोत्साहन देगा और धार्मिक चेतना के आग्रहों को अप्रासंगिक बनाता जाएगा।

अपने देश में धर्म निरपेक्षता की जो परिभाषाएं फैलाई गईं, वह धार्मिकता के ज्यादा करीब थी। इसे सर्व-धर्म समभाव या धर्मों से समान सापेक्षता के रूप में लिया जाता है। इस परिभाषा के अनुसार हमारा शासक वर्ग किसी भी या सभी धर्मों को समान रूप से प्रोत्साहन देकर साम्प्रदायिकता की ताकतों को मजबूत करता है और उनसे वोट की लगातार भ्रष्ट होती गई राजनीति की शतरंज खेलता है।

इस स्थिति का फायदा उठाकर कुछ लोग धर्मनिरपेक्षता की जरूरत से ही इनकार करने लगे हैं। वे कहते हैं कि भारत धर्म और सम्प्रदायों का देश है और धर्मनिरपेक्षता यहां की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उनके तर्क पर चला जाय तो हमें यूरोप से प्राप्त आधुनिक विज्ञान, तकनालाजी तथा लोकतन्त्र और समाजवाद की धारणाओं से भी मुक्त हो जाना चाहिए। ऐसी हालत में जो हमारे पास बच जाएगा, वह वर्गों और वर्णों में विभाजित, मध्य-युगीन और अस्पृश्यता के काले धब्बों से भरा जर्जर समाज होगा या फिर हिंदू साम्प्रदायिकता के वर्चस्व से नियंत्रित एक ऐसा राज्य तन्त्र, जो अपने मूल आशय में फासिज्म का भारतीय रूप होगा। साम्प्रदायिकता की विघटनकारी परिणतियों से परिचित कोई भी व्यक्ति इन दोनों विकल्पों को स्वीकार नहीं करेगा।

जहां तक परम्परा का सवाल है, भारत में धार्मिक और साम्प्रदायिक चिन्तन के अलावा और उसके खिलाफ, बुद्धिवादी और भौतिकवादी चिन्तन की एक मजबूत परम्परा रही है। बुद्ध के समय में चिन्तन के तमाम रूप सक्रिय थे और उनमें अधिकांश बुद्धिवादी तथा भौतिकवादी थे। खुद बुद्ध ने ईश्वर की धारणा का निषेध करके आत्मवादी चिन्तन पर गम्भीर प्रहार किया। चाणक्य का प्रसिद्ध अर्थशास्त्र अपनी मूल संरचना में एक धर्मनिरपेक्ष कृति है। बाद में मुगल बादशाह अकबर ने एक खास तरह की धर्म निरपेक्षता बरतने की कोशिश की। असली मुद्दा यह है कि आप परम्परा से क्या चुनते हैं और वर्तमान में आपका पक्ष क्या है? अब

समय आ गया है कि धर्मनिरपेक्षता को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाय और जनता की एकता तथा उसके जनवादी आन्दोलन के सामने खतरा बन रही तानाशाही और साम्प्रदायिकता की शक्तियों का मुकाबला किया जाए।

2

साम्प्रदायिकता हमारे देश, समाज और संस्कृति के लिए गम्भीर खतरा बन गई है। इस लेख में साम्प्रदायिकता के उन पहलुओं पर विचार किया जाएगा, जो संस्कृति के सीधे विरोध में जाते हैं और उसके अस्तित्व के लिए खतरा पैदा करते हैं।

हम कह सकते हैं कि संस्कृति मनुष्य का वह सचेतन और सामूहिक क्रिया कलाप है, जो उसे प्रकृति की अचेतन व्यवस्था के ऊपर सोद्देश्य नियन्त्रण कायम करने की क्षमता प्रदान करता है। यह क्रिया कलाप मनुष्य को प्रकृति और उसमें पाये जाने वाले दूसरे जीवों से अलग करता है। यानी संस्कृति, श्रम और सृजन के ज़रिए, मानव-जाति के निर्माण और विकास की प्रक्रिया है। इस मायने में, मनुष्य होना और सांस्कृतिक होना एक-दूसरे का पर्याय है। उत्पादन के तौर-तरीकों, दर्शन और विज्ञान के विचार और विविध कलाओं के ज़रिए मनुष्य ने अपने विश्वव्यापी सम्बन्धों और उनकी चेतना का विकास किया है, अपनी भावनाओं और अनुभूतियों का विस्तार किया है, अपने परिवेश तथा अपने आपको ज्यादा-से-ज्यादा मानवीय बनाया है। अब हम स्थान और काल की सीमाएं पार कर समस्त मानव-जाति और उसकी संस्कृति के लिहाज से सोच सकते हैं।

साम्प्रदायिकता संस्कृति के इस प्राथमिक मानवीय पहलू के विरोध से ही शुरू होती है। यह मानव-जाति के बदले एक-दूसरे से भेद या विरोध रखने वाले समूहों की धारणा पर आधारित होती है। यह धर्म या नस्ल के आधार पर जाति के विभाजन और विभाजित समूहों की असमानता पर जोर देती है। एकता की जगह भेद, सहयोग की जगह विरोध और सार्वभौमिकता की जगह संकीर्णता-साम्प्रदायिकता के मूल तत्व होते हैं। ये सारे तत्व मानव-जाति की पहचान धुंधली करते हैं और उसके अस्तित्व के मूल तत्वों का निषेध करते हैं। यह आकस्मिक नहीं कि साम्प्रदायिक उन्माद बढ़ने पर लोग पड़ोसियों तक को पहचानने से इंकार करने लगते हैं, अच्छे-भले लोग भी जघन्य हरकतें करने लगते हैं और समाज को आपसी मारकाट के नरक में बदल देते हैं। साम्प्रदायिकता अपने उग्र रूप में खुली बर्बरता की शक्ल ले लेती है। अगर संस्कृति मानवता है, तो साम्प्रदायिकता बर्बरता है।

संस्कृति मानव-चेतना के उन विविध रूपों का उत्पादन और विकास है, जिनके ज़रिए वह बाहरी और भीतरी यथार्थ की पहचान करता है तथा पहचान और अपनी जरूरत के अनुसार यथार्थ को बदलता है, उसका मानवीकरण करता है। जाहिर है, यथार्थ के ज्ञान के लिए मनुष्य अनुभव बुद्धि और प्रयोग (व्यवहार) का सहारा लेता है। अनुभव ज्ञान की सामग्री प्रदान करता है तो व्यवहार कसौटी। बुद्धि इन दोनों के सहयाग से विचारों का निर्माण करती है, सामान्य गुणों और नियमों को प्रतिबिम्बित करने वाली धारणाओं का सृजन करती है। संस्कृति का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जो बुद्धि के सक्रिय हस्तक्षेप के बिना सम्भव है। सारा ज्ञान-विज्ञान और सभी कलाएं मनुष्य की इस बोध-प्रक्रिया के विविध रूप हैं। कोई भी संस्कृति बुद्धिहीन नहीं हो सकती।

लेकिन साम्प्रदायिकता एक ऐसी चीज है जो बुद्धि का विरोध किए बगैर आगे नहीं बढ़ सकती। वह यथार्थ का वास्तविक ज्ञान हासिल करने की बजाय अर्द्ध सत्यों और झूठी अफवाहों पर जिन्दा रहती है। वह विद्वेष और घृणा जैसे भावों को उत्तेजना और उन्माद के छोर तक ले जाकर और सहयोग तथा प्रेम जैसे बुनियादी भावों को नष्ट करके मनुष्य को आत्महीन तो बनाती ही है, बुद्धि और विवेक के प्रखर आध्यात्मिक औजारों से भी वंचित कर देती है।

बुद्धि-विरोध साम्प्रदायिकता के उस एकांगी नज़रिये का परिणाम है, जो यथार्थ को इसकी समग्रता में देखने की बजाय अंश को ही समग्र यथार्थ मानने पर उतारू होता है। वह धर्म, नस्ल या जाति के आधार पर मानव-जाति को टुकड़ों में बांटने तथा किसी एक टुकड़े को ही सत्य मानने के आग्रह से पैदा होता है। चूंकि बुद्धि अपने मूल रुझान में चीजों के कार्य-कारण सम्बन्धों की जांच करती है और उनके सार्वभौम लक्षणों तथा नियमों की जानकारी हासिल कने की ओर अग्रसर होती है, इसलिए यथार्थ के किसी एक हिस्से को मनमाने ढंग से सम्पूर्ण सच मानने का दुराग्रह बुद्धि के वास्तविक, विकृत भावों की ऐसी आंधी खड़ी करती है, जिसमें पैर और दिमाग, दोनों जमीन से उखड़ जाते हैं।

साम्प्रदायिकता का यह बुद्धि विरोधी और एकांगी रूप हमारे देश के इतिहास चिन्तन में बखूबी दिखायी पड़ता है। अपने इतिहास और लेखन की कई धाराएं हैं, जिनमें एक धारा हिन्दू साम्प्रदायिकता के नज़रिये से काम करती है। इस धारा के अनुसार, हमारे देश में सारा पतन, सारी दुर्दशा और सारी दासता मुसलमानों के भारत आने पर शुरू हुई। उससे पहले राम राज्य था, खरे सोने का युग था। हम सब जानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज की विशेषता है, जो समाज के बड़े उत्पादक हिस्से (वैश्य और शूद्रों) तथा महिलाओं को तमाम मानवीय अधिकारों से वंचित करती है। वंचना की इस व्यवस्था को मनु और दूसरे स्मृतिकारों ने धर्म की मर्यादा दे दी थी। लेकिन इस मामूली और सर्वविदित ऐतिहासिक तथ्य को छिपाये बगैर हिन्दू समुदाय के बीच सक्रिय साम्प्रदायिक तत्व इस बहुसंख्यक समुदाय को धार्मिक अल्प संख्यकों, खास कर मुसलमानों के खिलाफ प्रेरित करने का अपना मकसद पूरा करने में समर्थ नहीं दीखते।

इतिहास के प्रति इस साम्प्रदायिक रवैये का ही नतीजा है कि कुछ लोग ताज महल और कुतुब मीनार जैसे गौरवशाली भारतीय सांस्कृतिक प्रतीकों को जबरन हिन्दू राजाओं की कृति साबित करने का प्रयास करते हैं। अरसे से चल रहा बाबरी मस्जिद-राम

जन्म भूमि विवाद ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति साम्प्रदायिक रुख अपनाने का ही सबूत है। विवेक और प्रमाण के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों की जांच करने और सही निष्कर्षों तक पहुंचने की बजाय दुराग्रहों और अन्ध विश्वासों को बल देने वाला यह रवैया हमारे देश की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को विकृत रूप में पेश करता है।

मध्य युग के सांस्कृतिक-साहित्यिक आंदोलन में हिंदू और मुसलमान रचनाकारों का समान रूप से योगदान है। अमीर खुसरो, जायसी, कबीर, रहीम और रसखान के बगैर तत्कालीन हिंदी साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। पंजाबी में प्रेम-काव्यों की महान रचना-परम्परा की शुरुआत मुसलमान कवियों ने की थी। आधुनिक बंगला के महान कवियों में एक तरफ रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं, तो दूसरी तरफ नजरुल इसलाम। खुद उर्दू भाषा के महान कवियों ने धर्म निरपेक्ष मूल्यों और साम्प्रदायिकता की विभाजनकारी अमानवीयता का जमकर विरोध किया है। लेकिन साम्प्रदायिक नज़रिया रखने वाले लोग भारतीय संस्कृति का मतलब सिर्फ हिन्दू संस्कृति से लगाते हैं और उसके तमाम गतिशील और गौरवशाली पक्षों को खारिज कर देते हैं। साम्प्रदायिक नज़रिया बढ़ कर अब भाषा के प्रति संकीर्ण रुख तक आ पहुंचा है। उर्दू और हिंदी के बीच दूरी दिखाने, उर्दू को कमजोर और अलगाववादी ठहराने और उसे देश विभाजन की भाषा बताने का दृष्टिकोण इधर जोर पकड़ने लगा है। भाषाओं के समान विकास के लिए संघर्ष करने की बजाय किसी एक भाषा को सर्वोच्च स्थान पर बैठा कर और दूसरी भाषाओं को उसके अधीन या अप्रासंगिक ठहरा कर साम्प्रदायिक नज़रिये का जोर कितना बढ़ गया है और हमारे ये प्रगतिशील साथी उस जोर के आगे कितने झुक गए हैं।

संस्कृति और प्रकृति में भेद का प्रमुख पहलू यह है कि जहां प्रकृति निहित नियमों की स्वतःस्फूर्त गति का क्षेत्र होती है, वहां संस्कृति उन नियमों के ज्ञान और उस ज्ञान के आधार पर यथार्थ को योजनाबद्ध ढंग से बदलने और उसे अपने नियन्त्रण में लेने का क्षेत्र है। श्रम की बुनियादी प्रक्रियाओं से लेकर विज्ञान और कला के विविध रूप यथार्थ के बाहरी और भीतरी नियमों से प्रकृति के अनन्त और अनिवार्य ढाँचे के भीतर स्वतन्त्रता का क्षेत्र बनाते हैं। यह क्षेत्र ही संस्कृति है।

साम्प्रदायिकता इसके ठीक विपरीत मानव समुदायों के परस्पर भेद और विरोध का झूठ गढ़ कर स्वतन्त्रता के सामूहिक निर्माण की प्रक्रिया को असम्भव बनाती है। वह न सिर्फ यथार्थ के समग्र ज्ञान और परिवर्तन की प्रक्रिया का हनन करती है, बल्कि इन कारणों से वह प्रकृति और समाज में सक्रिय मानव-विरोधी शक्तियों की दासता का मार्ग खोलती है। मनुष्य आपसी सम्बन्धों में उतनी स्वतन्त्रता हासिल कर पाता है जितनी अपने गैर-मानवीय यथार्थ के बीच वह हासिल करता है। यानी, वह जिस हद तक असंस्कृत होता है, उस हद तक परतन्त्र होता है। साम्प्रदायिकता संस्कृति या स्वतन्त्रता के क्षेत्र में तोड़-फोड़ करके बर्बरता या पराधीनता को बढ़ावा देती है।

इस सिलसिले में कुछ अरसा पहले राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और जनसंघ द्वारा प्रचारित भारतीयकरण के नारे पर गौर किया जा सकता है। इस नारे के अनुसार भारत सिर्फ हिन्दुओं का देश है और भारतीय होने के लिए सभी गैर-हिन्दू समुदायों, खास कर मुसलमानों को हिन्दुओं के नक्शे-कदम पर चलना चाहिए। यानी गैर-हिन्दू समुदायों के लोग भारत के नागरिक हैं ही नहीं। उन्हें भारत का नागरिक तभी माना जाएगा जब वे हिंदू धर्म अपनाएं, हिंदुओं की श्रेष्ठता और अधीनता स्वीकार करें। सभी जानते हैं कि हिन्दू धर्म वर्ण और जाति की भारी विषमता पर आधारित है। उसमें आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्ग और वर्ण के लोग ही शासन की बागडोर संभाल रहे हैं। उसका बहुमत अब भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित है। इस हालत में दूसरे समुदायों के लोगों को इस धर्म की अधीनता स्वीकार करने के लिए कहना पराधीन लोगों की दूसरी या तीसरी कतार कायम करने के बराबर है।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ या उस जैसी दूसरी साम्प्रदायिक शक्तियां स्वतन्त्र चिन्तन और उसकी अभिव्यक्ति का जबर्दस्त विरोध करती रही हैं। इसका एक उदाहरण 1960 के आस-पास मुक्तिबोध की एक इतिहास-सम्बन्धी किताब पर पाबन्दी लगाने के लिए इन शक्तियों के द्वारा छेड़े गये अभियान में दिखाई पड़ा था। मुसिलम महिला विधेयक का विरोध करने वाले कुछ प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के प्रति हैदराबाद में मुस्लिम कट्टरपंथियों द्वारा किया गया अपमानजनक और हमलावराना व्यवहार इसका दूसरा नमूना है। पंजाब में साम्प्रदायिकता ने आतंक की जो हालत पैदा कर रखी है, उससे स्वतन्त्र चिन्तन करने और उसे स्वर देने के बुनियादी मानवीय अधिकार को भारी खतरा पैदा हो गया है। असल में, विघटन और दमन साम्प्रदायिकता के जुड़वां परिणाम हैं।

संस्कृति के जिन गुणों, मानवीयता, बुद्धिपरकता और स्वतन्त्रता की चर्चा मैंने की है, उन्हें उसके बुनियादी रुझानों के रूप में देखना चाहिए। ऐसा नहीं है कि ये रुझान पूरा यथार्थ रूप ले चुके हैं या फिर साम्प्रदायिकता कहीं से अचानक टपक कर उनके लिए खतरा पैदा कर रही है।

अनेक ऐतिहासिक कारणों से मानव समाज का विकास असमान ढंग से हुआ है और हमारे यहां वर्णों में भी विभाजित रहा है। विभाजन और विषमता की इन सामाजिक और ऐतिहासिक स्थितियों ने संस्कृति के क्षेत्र पर, मूल्य, विचार और सृजन के क्षेत्र पर प्रभाव डाला है। वर्ग विभाजन मनुष्य की चेतना में धार्मिक रूप ले कर दो लोगों, इहलोक और परलोक, की धारणा में व्यक्त होता रहा है, परतंत्रता को बल देने वाले विचार भी गढ़े गए हैं। हमारे यहां कर्म, पुनर्जन्म और भाग्य के विचार परतन्त्रता को बल देने के लिए ही गढ़े गए हैं। आज

तक के हर परजीवी शासक वर्ग ने मूल्य, विचार और कला को यथास्थिति की सेवा में लगाने के लिए एकांगी, अबौद्धिक और सृजन-विरोधी दृष्टिकोण निर्मित और प्रचारित किया है। इस तरह उसने संस्कृति के बुनियादी रुझानों का हनन कर अपसंस्कृति या संस्कृतहीनता की प्रवृति को बढ़ावा दिया है। साम्प्रदायिकता इस अपसंस्कृतिक का ही एक रूप है–एक उग्र रूप, जिसका इस्तेमाल ब्रिटिश उपनिवेशवादियों से लेकर भारत के मौजूदा शासक वर्ग तक ने किया है।

हमें गौर करना चाहिए कि मौजूदा हालत में धर्म निरपेक्ष मूल्यों की हिफाजत और विकास का कार्य जनता और उससे जुड़े बुद्धिजीवी, कलाकार, लेखक और अन्य संस्कृतिकर्मी ही कर सकते हैं। हमें अपने सृजन और चिन्तन में जुझारू धर्म निरपेक्ष रुख अपनाना चाहिए, ताकि साम्प्रदायिकता और तानाशाही की संस्कृति विरोधी शक्तियों को पराजित किया जा सके।

भगत सिंह के विचार

लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग चेतना की जरूरत है। गरीब मेहनतकशों व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूंजीपति हैं, इसलिए तुम्हें इनके हथकंडों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिए। संसार के सभी गरीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताकत अपने हाथ में लेने का यत्न करो। इन यत्नों में तुम्हारा नुकसान कुछ नहीं होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी जंजीरें कट जाएंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी।

जो लोग रूस का इतिहास जानते हैं, उन्हें मालूम है कि जार के समय वहां भी ऐसी ही स्थितियां थीं, वहां भी कितने ही समुदाय थे जो परस्पर जूत-पतांग करते रहते थे। लेकिन जिस दिन से वहां श्रमिक-शासन हुआ, वहां नक्शा ही बदल गया है। अब वहां कभी दंगे नहीं हुए। अब वहां सभी को 'इन्सान' समझा जाता है, 'धर्मजन' नहीं। जार के समय लोगों की आर्थिक दशा सुधर गई है और उनमें वर्ग चेतना आ गई है इसलिए अब वहां से कभी किसी दंगे की खबर नहीं आई।

इन दंगों में वैसे तो बड़े निराशाजनक समाचार सुनने में आते हैं, लेकिन कलकत्ते के दंगों में एक बात बहुत खुशी की सुनने में आई। वह यह कि वहां दंगों में ट्रेड यूनियनों के मजदूरों ने हिस्सा नहीं लिया और न ही वे परस्पर गुत्थमगुत्था ही हुए, वरन सभी हिन्दू-मुसलमान बड़े प्रेम से कारखानों आदि में उठते-बैठते और दंगे रोकने के भी यत्न करते रहे। यह इसलिए कि उनमें वर्ग चेतना थी और वे अपने वर्गहित को अच्छी तरह पहचानते थे।

यह खुशी का समाचार हमारे कानों को मिला है कि भारत के नवयुवक अब वैसे धर्मों से जो परस्पर लड़ाना व घृणा कराना सिखाते हैं, तंग आकर हाथ धो रहे हैं और उनमें इतना खुलापन आ गया है कि वे भारत के लोगों को धर्म की नजर से–हिन्दू-मुसलमान या सिख रूप में नहीं, वरन सभी को पहले इन्सान समझते हैं, फिर भारतवासी। भारत के युवकों में इन विचारों के पैदा होने से पता चलता है कि भारत का भविष्य सुनहला है और भारतवासियों को इन दंगों आदि को देखकर घबराना नहीं चाहिए, बल्कि तैयार-बर-तैयार हो यत्न करना चाहिए कि ऐसा वातावरण ही न बने, ताकि दंगे हों ही नहीं।

1914-15 के शहीदों ने धर्म को राजनीति से अलग कर दिया था। वे समझते थे कि धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है, इसमें दूसरे का कोई दखल नहीं। न ही इसे राजनीति में घुसाना चाहिए, क्योंकि यह सरबत को मिलकर एक जगह काम नहीं करने देता। इसलिए गदर पार्टी-जैसे आंदोलन एकजुट व एकजान रहे, जिसमें सिख बढ़-चढ़कर फांसियों पर चढ़े और हिन्दू-मुसलमान भी पीछे नहीं रहे।

इस समय कुछ भारतीय नेता भी मैदान में उतरे हैं, जो धर्म को राजनीति से अलग करना चाहते हैं। झगड़ा मिटाने का यह भी एक सुन्दर इलाज है और हम इसका समर्थन करते हैं।

यदि धर्म को अलग कर दिया जाए तो राजनीति पर हम सभी इकट्ठे हो सकते हैं। धर्मों में हम चाहे अलग-अलग ही रहें।

हमारा ख्याल है कि भारत के सच्चे हमदर्द हमारे बताए इलाज पर जरूर विचार करेंगे और भारत का इस समय जो आत्मघात हो रहा है, उससे हमें बचा लेंगे।

1914-15 के शहीदों ने धर्म को राजनीति से अलग कर दिया था। वे समझते थे कि धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है, इसमें दूसरे का कोई दखल नहीं। न ही इसे राजनीति में घुसाना चाहिए, क्योंकि यह सरबत को मिलकर एक जगह काम नहीं करने देता। इसलिए गदर पार्टी-जैसे आंदोलन एकजुट व एकजान रहे।

1857 के पुनरावलोकन की आवश्यकता

■ सलिल मिश्र

अठारह सौ सतावन की घटनाओं पर सामान्य जानकारी भले ही कम हो लेकिन इसमें लोगों की दिलचस्पी में कोई कमी नहीं रही है। यह विद्रोह चंद सिपाहियों के असंतोष का परिणाम था या भारतीय स्वतंत्रता का पहला महासंग्राम? एक विफल राजनीतिक प्रयोग मात्र था या राष्ट्रवाद की महायात्रा का पहला कदम? ये सभी प्रश्न विवाद के घेरे में रहे हैं और इनके निश्चित उत्तर आसानी से उपलब्ध नहीं। इसका एक कारण यह भी है कि 1857 के विद्रोह की असफलता के साथ एक और असफलता जुड़ी हुई है, इतिहास लेखन की असफलता। इतनी बड़ी घटना, इसकी राजनीति और जटिलताओं के साथ इतिहास लेखन ने निश्चित रूप से नाइंसाफी की है। इतिहास लेखन 1857 के विद्रोह के असली स्वरूप और चरित्र को स्पष्टता के साथ उजागर करने में अक्षम रहा है।

19वीं सदी के अंत तक ब्रिटिश अधिकारियों के लेखों में 1857 के विद्रोह को महज सिपाहियों के बगावत के रूप में देखा जाता रहा। इस बगावत के कारण भी किसी गहरे असंतोष में नहीं, बल्कि ऐसे चर्बी भरे कारतूसों के इस्तेमाल में पाए गए, जिनमें गाय और सूअर का मांस मिला हुआ था। इस तरह से ब्रिटिश सोच में यह सिर्फ धार्मिक असंतोष का मामला था। कुछ ब्रिटिश अधिकारियों ने इस विद्रोह को एक मुस्लिम प्रतिक्रिया के रूप में भी देखा। उनकी ब्रिटिश सत्ता ने मुस्लिम सत्ता को अपदस्थ किया था और 1857 मुस्लिम सत्ता को पुनर्स्थापित करने का प्रयासभर था। ये सभी मत 1857 के विद्रोह के नाटकीय, सरलीकृत और अवास्तविक चित्रण से अधिक कुछ नहीं थे। प्रसिद्ध मुस्लिम सुधारक और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खां ने अपनी पुस्तक 'असबाब-ए-बगावत-ए- हिंद' (हिंद की बगावत के कारण) लिखकर इस भ्रम को तोड़ने की कोशिश की कि यह विद्रोह मुस्लिम प्रतिक्रिया था। लेकिन उस समय तक 1857 पर मुस्लिम विद्रोह का ठप्पा मजबूती से लग चुका था और उसका छूटना मुश्किल ही लग रहा था। बीसवीं शताब्दी में 1857 को मुस्लिम दायरे से निकालकर राष्ट्रीय दायरे में स्थापित करने का काम किया वीर सावरकर ने। विद्रोह की स्वर्ण जयंती के अवसर पर लिखी अपनी पुस्तक में सावरकर ने 1857 को भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम के रूप में प्रतिष्ठित किया।

लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा का 1857 के प्रति रवैया कुछ-कुछ ढुलमुल ही रहा। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने विद्रोह के लोकप्रिय चरित्र को तो स्वीकारा और विद्रोह का कारण भारतीयों में व्याप्त गहरे असंतोष को माना। लेकिन साथ ही, उन्हें विद्रोह का नेतृत्व सामंतवादी हाथों में दे दिया। इस तरह से इस विद्रोह पर लादा गया मुस्लिम जामा उतरे हुए कुछ ही समय हुआ था कि इसे एक सामंतवादी जामा पहना दिया गया। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज' में विद्रोह के लोकप्रिय चरित्र, जुझारू संघर्ष तथा इसमें निहित साम्राज्यवादी विरोधी भावनाओं की प्रशंसा तो की, परंतु इसे पुरानी सामंती व्यवस्था द्वारा स्वयं को पुनर्स्थापित करने के अंतिम प्रयास के रूप में भी देखा। नेहरू के अनुसार बगावत की बागडोर ऐसे लोगों की हाथों में थी जो अपनी ऐतिहासिक पारी खेल चुके थे और अब भविष्य में उनकी कोई भूमिका नहीं बची थी।

1857 के स्वरूप को लेकर इतिहास लेखन में इस प्रकार का दोहरापन काफी समय तक बना रहा। एक तरफ इसके जुझारूपन तथा साम्राज्यवाद विरोध की सराहना हुई तो दूसरी तरफ इसे पारंपरिक, सामंतवादी, गैर-आधुनिक तथा पुनरुत्थानवादी भी माना गया और इन कारणों से इसे महात्मा गांधी और कांग्रेस के नेतृत्व में लड़े गए भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रखकर देखा गया। इसे पारंपरिक साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों की शृंखला की अंतिम कड़ी के रूप में देखा गया, आधुनिक राष्ट्रवाद संघर्षों की शृंखला की पहली कड़ी के रूप में नहीं। प्रसिद्ध इतिहासकार आरसी मजूमदार ने एक बार फिर इसे मुस्लिम जामा पहनाने की कोशिश की। प्रथम राष्ट्रीय संघर्ष के रूप में इसकी अस्मिता को पूरी तरह से खारिज करते हुए उन्होंने घोषित किया कि यह विद्रोह न राष्ट्रीय था, न प्रथम और न ही एक संघर्ष। यह सत्ता से अपदस्थ कुछ लोगों का अपनी सत्ता को दोबारा हथियाने का षडयंत्र था।

इधर पिछले पचास वर्षो के इतिहास लेखन ने कई पुरानी भ्रांतियों को तोड़ा है। मुस्लिम जामा और सामंतवादी जामा भी काफी हद तक उतर चुका है। साथ ही, इसके जनोन्मुखी चरित्र की सीमाएं भी काफी स्पष्ट हुई हैं और रजवाड़ों तथा सिपाहियों के अतिरिक्त किसानों की भागीदारी भी उभरकर सामने आई है।

इस संघर्ष की 150 वीं वर्षगांठ पर अब यह आवश्यक हो गया है कि इसे नए सिरे से देखा और समझा जाए। यह भी जरूरी है कि यह नई समझ सिर्फ इतिहासकारों तथा अन्य बुद्धिजीवियों तक ही सीमित न रहे, बल्कि इसका समाज में व्यापक प्रसार भी हो। इससे 1857 की विरासत के पुनर्मूल्यांकन का अवसर भी मिलेगा, जिससे इस पर छाया हुआ कोहरा काफी हद तक छंट सकेगा और कई बातें स्पष्ट रूप से सामने आएंगी। पहली बात तो यह कि 1857 महज एक सिपाही विद्रोह नहीं, बल्कि एक विशाल जनाक्रोश का परिणाम था, जिसमें समाज के विभिन्न वर्ग सक्रिय रूप से शामिल थे। इसमें किसान, बुनकर, जमींदार, रजवाड़े जैसे वे तबके शामिल थे जो अंग्रेजी शासन से प्रताड़ित थे। 1857 किसी एक वर्ग विशेष का विद्रोह नहीं, बल्कि समाज के एक बड़े हिस्से के आक्रोश का परिणाम था।

दूसरी बात यह कि यह विद्रोह सिर्फ उत्तर भारत तक ही

सीमित नहीं था। कई ऐतिहासिक पड़तालों ने यह साबित कर दिया है कि 1857 में देश का एक विशाल हिस्सा विद्रोह के प्रभावक्षेत्र में आ चुका था। उत्तर भारत के साथ-साथ महाराष्ट्र, असम, बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारत के कई इलाकों में लगभग, एक ही समय में विद्रोह की चिंगारी प्रज्वलित हो चुकी थी और जनमानस में यह स्वतंत्रता संग्राम के प्रतीक के रूप में उभरकर सामने आ चुका था। तीन, जिस तरह की हिंदू-मुस्लिम एकता और सहभागिता 1857 के दौरान देखी गई वैसी उससे पहले और उसके बाद शायद ही दोबारा दिखाई दी। सैनिकों की मिली-जुली लड़ाई और बागियों के फरमानों से लेकर गो-हत्या पर शाही प्रतिबंध लगाने तक विद्रोह के दौरान हर स्थान पर हिंदू-मुस्लिम एकता का बोलबाला रहा। इस तरह की सक्रिय एकता बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक आंदोलनों में क्यों नहीं संभव हो सकी, यह भी ऐतिहासिक शोध का एक महत्वपूर्ण विषय है।

और अंत में सबसे महत्वपूर्ण बात। इस विद्रोह का चरित्र संपूर्ण रूप से राष्ट्रवादी भले ही न रहा हो, लेकिन इसमें आधुनिक राष्ट्रवाद के कई महत्वपूर्ण अंश विद्यमान थे। यह आखिरी विशाल पारंपरिक विद्रोह के साथ-साथ पहला आधुनिक विद्रोह भी था। इस मायने में 1857 को महात्मा गांधी के नेतृत्व में लड़े गए राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रदूत के रूप में देखा जाना चाहिए। इलाहाबाद शहर से प्राप्त एक घटना से इस बात की पुष्टि होती है। 1857 के कई बागियों को अंग्रेजों ने पेड़ों से लटकाकर फांसी दी थी। इलाहाबाद के लोगों ने ऐसे कई पेड़ों को पहचाना, जहां 1857 के शहीदों को लटकाया गया था। कई वर्षों बाद 13 अप्रैल 1919 में इलाहाबाद से सैकड़ों मील दूर अमृतसर शहर के जलियांवाला बाग में एक बार फिर ब्रिटिश सरकार की बर्बरता का नमूना देखने को मिला जब सैकड़ों निर्दोष लोगों को गोलियों से भून दिया। जलियांवाला बाग हत्याकांड के कुछ दिनों बाद इलाहाबाद की जनता ने बगैर किसी राजनीतिक निर्देश के या बगैर किसी राजनीतिक हस्तक्षेप के अपने आप उन्हीं पेड़ों की पूजा शुरू कर दी जो जन चेतना में 1857 के प्रतीक बन चुके थे। भारत की जनता ने अपने अनूठे तरीकों से अपनी चेतना में 1857 और राष्ट्रीय आंदोलन के बीच एक अभिन्न संबंध स्थापित कर लिया था। इस संबंध पर ऐतिहासिक प्रामाणिकता की मुहर लगाना। 1857 की 150 वीं वर्षगांठ पर कुछ देर आए दुरुस्त आए जैसा ही होगा।

(लेखक इंदिरा गांधी ओपन यूनिवर्सिटी इग्नू में आधुनिक भारतीय इतिहास के प्रोफेसर हैं)

बयाने-ग़म

बहादुरशाह जफ़र

गयी यक ब यक जो हवा पलट नहीं दिल को मेरे क़रार है
करूँ इस सितम[1] का मैं क्या बयां, मिरा ग़म से सीना फ़िगार[2] है
यह रिआया-ए-हिन्द तबाह हुई कहो क्या-क्या इन पे जफ़ा हुई
जिसे देखा हाकिमे-वक़्त[3] ने, कहा यह भी क़ाबिले-दार[4] है
यह किसी ने जुल्म भी है सुना कि दी फांसी लोगों को बेगुनह
चले कल्मा गोइयों[5] की सिम्त से अभी उनके दिल में ग़ुबार[6] है
न था शहर देहली, यह था चमन, कहो किस तरह का था यां अमन
जो ख़िताब था वह मिटा दिया, फ़क़त अब तो उजड़ा दयार है
यही तंग हाल जो सब का है, यह करिश्मा[7] क़ुदरते रब का है
जो बहार थी सो ख़िज़ां हुई, जो ख़िज़ां थी अब वह बहार है
शबो-रोज़ फूल में जो तुले, कहो ख़ारे-ग़म को वह क्या कहे
मिले तौक़ क़ैद में जब उन्हें, कहा गुल के बदले वह हार है
सभी जा[8] वह मातमे-सख़्त[9] है, कहो कैसी गर्दिशे-बख़्त[10] है
न वह ताज है, न वह तख़्त है, न वह शाह है, न दयार है
न वबाल तन पे है सर मिरा नहीं जान जाने का डर ज़रा
कटे ग़म ही निकले जो दम मिरा, मुझे अपनी ज़िन्दगी बार है

संदर्भ

1. अत्याचार, 2. विकृत, 3. अधिकारी वर्ग, 4. फांसी पर लटकाने के क़ाबिल, 5. क़लमा पढ़ने वाले-मुसलमान, 6. मैल, 7. चमत्कार, 8. जगह, 9. शोक, विलाप, 10. भाग्यचक्र

सहरिया आदिवासी

■ राजेश कुमार साहू

ललितपुर जनपद उ.प्र. के बुन्देलखण्ड क्षेत्र में स्थित है जो वर्ष 1974 में झांसी जनपद से अलग होकर एक स्वतन्त्र जनपद के रूप में अस्तित्व में आया। यह जनपद तीन ओर से मध्य प्रदेश राज्य के टीकमगढ़ गुना व सागर जिलों से घिरा है। जिसकी सीमा बेतवा व धसान नदी से निर्धारित होती है। जनपद का कुल क्षेत्रफल 5039 वर्ग कि.मी. है व जनसंख्या 2001 की जनगणना के अनुसार 977730 है। जनपद 340 ग्राम पंचायतों व 734 राजस्व ग्रामों में विभाजित है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र के इस जनपद में विंध्याचल की पर्वत श्रेणियों में आदिवासी अपने आंसूओं और मुस्कानों का घुला-मिला जीवन न जाने कब से बिताते आ रहे हैं। ललितपुर के ये आदिवासी सहरिया कहलाते हैं। पर यह नाम प्रचलित नहीं है यह नाम तो उन्हें सभ्य समाज ने दिया है। वे तो वास्तव में राउत हैं। जनपद में इनकी आबादी लगभग 80 हजार है। यह आदिवासी वर्ष 2002 तक अनुसूचित जाति में सम्मिलित थे लेकिन 2003 से इन्हें अनुसूची-5 के अन्तर्गत अनुसूचित जनजाति में सम्मिलित कर लिया गया है। इन आदिवासियों की कुल जनसंख्या में लगभग 95 प्रतिशत परिवार सरकार द्वारा घोषित गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे हैं। आजीविका के संसाधनों का अभाव, जमीन पर सामंती परिवारों का कब्जा, ऋण ग्रस्तता, बधुआ मजदूरी से ग्रस्त सहरिया जनजाति भयावह भूख, बेरोजगारी, कुपोषण, असाध्य बीमारी और विस्थापन के शिकार हैं।

ललितपुर जनपद में परम्परागत सहरिया आदिवासी सामाजिक व्यवस्था में महिलायें मुख्य भूमिका में रहा करती थीं। सत्ता-संसाधनों पर महिलाओं का समान अधिकार तो था ही साथ ही जीवन के हर क्षेत्र में महिलाओं की निर्णायक भागीदारी भी हुआ करती थी। लेकिन अंग्रेजों की सामन्ती व्यवस्था ने महिलाओं को सत्ता संसाधनों के मालिकाना हक से दरकिनार कर दिया। साथ ही सामाजिक नव-निर्माण में इनकी निर्णायक भूमिका को खत्म कर दिया। ऐसा इसलिये हुआ कि सहरिया आदिवासी समाज पितृ-सत्तात्मक सामंती शोषक व्यवस्था और उसकी संस्कृति से प्रभावित हो गया। सामुदायिक जीवन-पद्धति और जीवन के हर मोर्चे पर स्त्री की साझेदारी सहभागिता और साहचर्य वाला समाज ऐसा बदला कि परम्परागत सभा में भी उन्हें बराबरी की संख्या में बैठने का हक नहीं रह गया। इस हक को यदि पुनःस्थापित करना है तो सहरिया आदिवासियों को फिर से अपनी जड़ों में झांकने की ज़रूरत है तथा अपने परम्परागत जीवन शैली को फिर से पुनर्जीवित करने का बीड़ा उठाना है जो आज की सामाजिक अवस्था में खो चुका है।

सहरिया आदिवासी समाज के मिथक और यथार्थ के फासलों को आज के सन्दर्भ में समझना जरूरी है। भूमण्डलीकरण तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के इस दौर में आदिवासी समाज के मूल्य शोध, सांस्कृतिक चेतना, प्रतिरोध तथा जनतंत्र के कई सूत्रों को नवीन व्याख्या की जरूरत है। खासकर आधुनिक तकनीक की दुनिया से उभरे मूल्यों तथा प्रकृति मूलक आदिवासी सामुदायिक जीवन पद्धति के बीच गहराते अन्तर्द्वन्द जो आज की सामाजिक अवस्था में दिनोंदिन बढ़ते ही जा रहे हैं।

पारम्परिक आदिवासी चेतना में सम्पत्ति पर सामूहिक हक, स्त्री-पुरुष समानता और सर्वानुमति पर आधारित जनतांत्रिक बोध को सामाजिक विकास का मापदण्ड माना जाता है। जबकि पूंजीवाद की प्रतिस्पर्धात्मक व्यवस्था वैयक्तिक को बढावा देती है। आर्थिक उदारीकरण के इस दौर में उत्पादन के साधन, वितरण के तरीकों तथा नियंत्रण प्रक्रिया में आए बदलावों ने सहरिया आदिवासी समाज पर विध्वंसक प्रभाव डाला है।

उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित होता सहरिया आदिवासी समाज सभी आदिवासी औरतों की संघर्षशील चेतना एवं शक्ति को नकारता रहा है। जो बहुत ही दुखद पहलू है। सहरिया आदिवासियों में भी स्त्री पुरुष समानता की जमीनी हकीकत सिर्फ संघर्षो के मैदानों में दिखाई देती है। सत्ता संसाधनों में स्त्री की बराबरी और उसके हक-अधिकार की बात सिर्फ शब्दों तक सीमित है।

आदिवासियों में जल, जंगल, जमीन जैसी प्राकृतिक संसाधनों में सभी का हक बराबर माना जाता था तथा इसे सामुदायिक सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया गया था। परन्तु आज सभ्य समाजों की व्यक्तिगत सम्पत्ति की अवधारणाओं का पूर्ण असर इनके समाज में भी प्रत्यक्ष रूप से दिखायी दे रहा है। व्यक्तिगत सम्पत्ति हथियाने की होड़ में भाई-भाई में रक्तरंजित संघर्ष बढ़ते हुए स्पष्ट रूप से दिख रहे हैं। यहां पर महिलाओं को बराबरी का दर्जा देना और अपने बराबर का इंसान समझना जो कि यहां की संस्कृति का हिस्सा था उसे तो ये लोग सामन्ती साम्राज्य के साथ ही भूल गए।

अन्य भारतीय समाजों की तरह सहरिया आदिवासी समाज

शेष पृष्ठ 14 पर...

रात की पाली में स्त्री

■ अंजलि सिन्हा

रात की पाली में स्त्री को काम करने की इजाजत मिले या नहीं, यह मसला पिछले दिनों कर्नाटक राज्य में एक बड़ा मसला बन गया। पहले सरकार ने रात की पाली में स्त्रियों के काम करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और फिर विरोध को देखते हुए आनन-फानन में उसे यह अधिनियम वापस लेना पड़ा।

साफ है कि रात की पाली में स्त्री से काम लेना चाहिए या नहीं इस पर समाज में एकमत नहीं है। कुछ की राय होती है कि जब तक समाज में पूर्ण सुरक्षा का माहौल न बन जाये तब तक यह खतरा बना रहेगा तो कोई अगर-मगर के साथ इस प्रस्ताव को स्वीकारता दिखता है। हालांकि सरकार ने पिछले साल ही केन्द्रीय स्तर पर फैक्टरी कानून में संशोधन कर रात की पाली में स्त्री को काम पर रखे जाने को स्वीकृति दी है। जानने योग्य है कि 1961 का फैक्टरी एक्ट महिलाओं को रात की पाली में काम करने की अनुमति नहीं देता था।

रात की पाली में स्त्री के काम नहीं करने के पीछे जो सबसे बड़ा तर्क दिया जाता है वह सुरक्षा का है। और यह हकीकत भी है कि औरत के लिए वातावरण सुरक्षित नहीं है। लेकिन अगर आंकड़ों की पड़ताल करें तो स्त्री के लिए महज सार्वजनिक दायरा ही नहीं बल्कि निजी दायरा भी असुरक्षित है।

मसला सिर्फ रात में काम करने का नहीं है बल्कि उसे सभी दायरों में पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करने का है। इसके उलट जब भी रात में स्त्री यौन हिंसा का शिकार होती है तो झट से औरत को रात को अकेले बाहर नहीं निकलने की उपदेशात्मक बात की जाती है, कोई इस पर आत्ममंथन नहीं करता कि हमारे समाज में इतनी हिंसा क्यों है? दिल्ली में दो साल पहले विश्वविद्यालय की छात्रा के साथ धौलाकुंआ नामक स्थान पर रात में घटी बलात्कार की घटना के बाद एक हिस्से की यही प्रतिक्रिया आयी कि आधी रात वह धौला कुंआ क्यों गयी थी? जरूर वहां जाकर उसने कोई अपराध किया हो ! पिछले साल बंगलौर में जब एक कॉल सेन्टर में काम करने वाली एक युवती रात में लौटते हुए यौन अत्याचार का शिकार होने के बाद मार दी गयी, तब भी पढ़े लिखे समुदाय के एक हिस्से से यही सवाल आया था - आखिर रात में काम पर जाने की जरूरत क्या है?

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी व्यक्ति के लिए कोई भी स्थान असुरक्षित क्यों है? और क्या प्रशासन/शेष समाज का यह कर्तव्य नहीं बनता कि वह सुरक्षा की गारंटी करे।

हमारा संविधान लिंग, जाति, धर्म के भेदभाव के बिना सभी को अपना पेशा चुनने का अधिकार देता है। इसी अधिकार को आधार बनाते हुए सुप्रीम कोर्ट ने 1997 में महिलाओं के लिए कार्यस्थल सुरक्षित किये जाने को लेकर एक ऐतिहासिक फैसला दिया और कार्यस्थल को सुरक्षित रखने की जिम्मेदारी सरकार तथा नियोक्ता पर डाली। यदि नियोक्ता तथा प्रशासन अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाते तो इसका खामियाजा क्या औरत को ही भुगतना चाहिए? या उत्पीड़न करने वाले अपराधी को सजा की गारन्टी की जानी चाहिए, यही सही समाधान होगा ।

रोजगार के अवसर उपलब्ध करना एक महत्वपूर्ण मसला है और इसीलिए रात की पाली में स्त्री के काम पर प्रतिबन्ध लगाना उनके अवसरों को छीनने जैसा है। इसके अलावा सार्वजनिक दायरे में पुरुषों की उपस्थिति जितनी जरूरी है उतनी ही स्त्रियों की भी आवश्यक है। वैसे व्यावहारिक तौर पर देखें तो यह कानून वैसे भी सभी क्षेत्रों में लागू नहीं होता था जैसे अस्पताल में कार्यरत डाक्टर/नर्स या कालसेन्टर में काम करने वाली लड़कियां/स्त्रियां या मीडिया में कार्यरत महिलायें आदि पहले से ही उसके दायरे के बाहर समझी गयी थीं।

इस समूची बहस में एक और सोच काम करती है, जो हमारे समाज के पितृसत्तात्मक स्वरूप की देन है और उसका सम्बन्ध घर/परिवार में स्त्री की भूमिका से जुड़ा रहता है और परिवार के आदर्शीकृत छवि को प्रोजेक्ट करने से संबंधित होता है।

आखिर परिवार की आदर्शीकृत एवं महिमा मण्डित छवि क्या है? यही कि वह स्त्रियों के लिए तथा बच्चों के लिए बेहद सुरक्षित स्थान है ! यह बात कहां तक सही है?

पिछले दिनों महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने भारत में बच्चों की स्थिति पर एक रिपोर्ट जारी की। विभाग की मंत्री रेणुका चौधरी ने कहा कि मैं इसे भारी मन से जारी कर रही हूं। रिपोर्ट बताती है कि देश में 53 फीसदी बच्चे यौन अत्याचार के शिकार हैं और उनके साथ यह अत्याचार अधिकतर परिवार के सदस्यों या करीबी लोगों ने किया है। बच्चों की हालत पर इसके पहले भी कई सर्वेक्षण हुए हैं और वे भी चिन्ता पैदा करने वाले ही रहे हैं।

ठीक इसी प्रकार महिलाओं के साथ होने वाले यौन अपराध का भी इतिहास है। हाल के दिल्ली पुलिस की रिपोर्ट के मुताबिक 96 फीसदी यौन हिंसा करीबी लोगों तथा जानकारों

द्वारा की जाती है। यह महत्वपूर्ण है कि हर साल के शुरू में जारी की जाने वाली इन रिपोर्टों में 'आत्मीय जनों द्वारा की जा रही यौन हिंसा' का प्रतिशत घटता नहीं दिखता।

सभी जानते हैं कि परिवारों के मौजूदा गैरजनतांत्रिक ढांचे में उत्पीड़ितों का स्वर उठना उतना ही मुश्किल होता है। चाहे वह बच्चे/बच्चियों के साथ होने वाली यौन हिंसा हो या घर के बहुओं के साथ दहेज या अन्य कारणों से की जाती हिंसा हो जिसे परिवार की इज्जत के नाम पर स्त्री और पुरुष दोनों ही द्वारा मिल कर दबा दिया जाता है। शेष समाज में भी इसके बारे में मौन सहमति रहती है क्योंकि सभी की धारणा या मान्यता रहती है कि अपना मामला अपने अन्दर ही रहे।

अगर घर/परिवार के अन्दर स्त्री की भूमिका पर लौटें तो एक बात समझ में आती है कि अगर स्त्री रात की पाली में काम करने जाती है तो घर का काम कौन निपटाएगा? अक्सर उन परिवारों में जहां पति-पत्नी दोनों को सुबह काम पर जाना होता है वहां स्त्री को पहले घर का काम निपटाना होता है, फिर चाहे रसोई की तैयारी हो या बच्चे की देखभाल का प्रश्न।

मूल्यों के धरातल पर देखें तो यदि औरत को काम के लिए रात घर से बाहर बीतानी हो तो यह 'अच्छे' परिवार के लिए अच्छी बात नहीं समझी जाती। नीति निर्माताओं के मन में यह तमाम बातें रही होंगी जब 1961 में फैक्टरी एक्ट बना होगा। अब वक्त आ गया है कि उन तमाम मानदण्डों को बदला जाये।

अतएव मसला सिर्फ असुरक्षा का नहीं है बल्कि काम के जेण्डर आधारित विभाजन का भी है और काम का यह जेण्डर आधारित विभाजन समाज में जेण्डर भेद को मजबूत बनाता है। बच्चे के समाजीकरण की प्रक्रिया में श्रम का इस प्रकार स्त्रीत्व और पुरुषत्व की छवि से बंटवारा उसे सबसे गहराई में प्रभावित करता है। इसीलिए आवश्यक है कि निजी-सार्वजनिक सभी जगह स्त्री की उपस्थिति सुनिश्चित की जाये ताकि न्यायपूर्ण और बराबरी के मूल्य पर आधारित समाज को विकसित किया जा सके।

(लेखिका स्त्री अधिकार संगठन से सम्बद्ध हैं एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती कॉलेज में कौन्सिलर के पद पर कार्यरत हैं)

सहरिया आदिवासी

पृष्ठ 12 का शेष भाग

सभी महिलाओं और पुरुषों की सहभागिता से बना है। लेकिन सहरिया समाज की संरचना में पुरुषों से कई गुना अधिक योगदान आदिवासी महिलाओं का रहा है। आदिवासी महिलायें जो आदिवासी समाज की अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं उन्हें खेत-खलिहान, जंगल-पहाड़ ही नहीं बल्कि शहर के हॅाट बाजारों में भी मेहनत मजदूरी करते देखा जा सकता है। उनकी रुचि और कल्पनाशीलता का अंदाजा इनके घरों पर अंकित रंग-बिरंगे चित्रों से लगाया जा सकता है। सहरिया आदिवासी महिलायें दीन-हीन अशिक्षित होकर भी बहुत समझदार, मेहनती और साहसी होती हैं।

वो सब कुछ सहकर चुप रहकर चौका, बर्तन, झाड़ू करती हैं। खेतों, जंगलों में भटककर वन उत्पाद, लकड़ियां लाती हैं और बेचती हैं। खेतों, सडकों और पत्थर की खानों में मजदूरी करती हैं और परिवार का खर्चा-पानी चलाती हैं और नाकाबिल और निकम्में पुरुषों के लिए दारू व तम्बाकू कटाती हैं। मीलों पैदल चलकर पानी लाती हैं। देर रात को अपनी अनुशासित देह पर पाश्विक तांडव भी सहती हैं। उनकी आँख की पहुँच तक ही सीमित होती है उनकी दुनिया। वे नहीं जानती कि इतनी मेहनत के बावजूद उन्हें उनके घर में कोई हक क्यों नहीं है और समाज में कोई स्थान।

सचमुच बडी त्रासदी कथा है इन सहरिया आदिवासी महिलाओं की। वे किसी पंचायत में नहीं बैठ सकती ना ही किसी नीति-निर्धारण में उनकी पूछ होती है। यहां तक कि देव स्थलों में भी उनके प्रवेश की शर्तें हैं ना मालूम कब और कैसे परम्परा और आदि धर्म के नाम पर पुरुषवादी निरंकुश सत्ता को टिकाए रखने के लिए पत्थर की लकीर की तरह इनका निर्धारण किया गया।

आज जबकि वैज्ञानिक मान्यताओं और तर्क संगत आधुनिक सिद्धान्तों के सहारे कई परम्परागत समाज अपने को ऊपर उठाने में लगे हैं। तब सहरिया आदिवासी समाज पूरी तरह प्रथागत कानून की गिरफ्त में है, जिसका सबसे अधिक खामियाजा सहरिया आदिवासी महिलाओं को भुगतना पड़ता है।

आज ये सहरिया आदिवासी अपनी पारम्परिक अवस्था से अलग हट चुके हैं। इन्हें भी बाहरी सभ्यता की आबो-हवा ने काफी हद तक घेर लिया है। उनका समाज भी उन मान्यताओं व प्रथाओं को बढ़ावा दे रहा है जहां महिला को दोयम दर्जे का इंसान समझा जाता है। उसकी हर गतिविधि पर पुरुष का पहरा व उस पर पुरुष का मालिकाना हक है। यदि सहरिया आदिवासियों को अपनी पहचान को लेकर जीना है तो उन्हें तलाशने होंगे अपने पारम्परिक जीवन शैली के प्रारूप। उन्हें जरूरत है अपनी पूरी ताकत के साथ आधुनिक युग की परम्पराओं से लड़कर जीतने की तभी इन आदिवासियों का पुराना गौरव वापस मिल सकेगा तथा महिलाओं को उनका वास्तविक पद।

मई दिवस बनाम मजदूर दिवस

■ आई.एस.डी.

एक मई जिसे ज्यादातार लोग 'मजदूर दिवस' के नाम से जानते हैं, ये दिन मजदूरों का अपना दिन है। इस दिन वे संगठित होकर अपने हितों के बारे में बातचीत व कार्यनीति बनाते हैं तथा अपनी पूर्ण स्वतंत्रता के साथ पूंजीपतियों के लिए इस शब्द का कितना महत्व है इस बारे में भी विचार विमर्श करते हैं। इस दिवस की वास्तविक शुरुआत कैसे हुई, किन लोगों के बीच में इसे मनाया गया तथा आज ये किस रूप में है, यह सब काफी सोचने वाली तथा जानकारी बढ़ाने की बात है।

जैसा कि शुरुआत में कहा गया है कि ये दिन 'मजदूर दिवस' के रूप में मनाया जाता है इसका वर्तमान स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक वर्ग की समस्याओं की ओर ध्यान दिलाने वाला एक दिन है। लेकिन बहुत कम लोग ही जानते होंगे कि इस दिन की शुरुआत इस रूप में नहीं हुई थी। मई दिवस मनाने की परंपरा मध्यकालीन यूरोप से शुरू हुई और तब इसका मुख्य उद्देश्य था बसन्त के आगमन का स्वागत। बसन्त यानि फिर से नयी उम्मीदें और खुशियां लाने वाला समय। यूरोप में उस समय लोग मेपोल फूलों के खिलने पर हर्षोल्लास से भर जाते थे और इस हर्षोल्लास को अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने मई माह का पहला दिन तय किया। इसलिए इसका नाम 'मे डे' यानि मई दिवस रखा।

लोगों का जुड़ाव हमेशा प्रकृति से रहा है चाहे वे किसी देश के हों या किसी धर्म के हों, ये जुड़ाव अपने भौगोलिक संरचना के हिसाब से वहां की प्राकृतिक छटाओं से जुड़ा मिलता है। जैसे भारत में बसन्त आगमन पर सरसों के फूलों से सभी जगह प्रकृति अपने पीले रंग की चादर फैला देती है जो किसी भी उदास को खुश करने की ताकत रखती है। इसके अलावा अन्य फल फूलों के वृक्ष भी अपने पुराने पत्तों से निजात पाकर फिर से नई कोपलों के साथ पल्लवित व पुष्पित हो जाते हैं। कोयल भी पंचम सुर में गाकर सबको मोह लेती है तथा मानव समाज अपनी इस खुशी को जाहिर करने के लिए कई त्यौहारों- समारोहों की रचना भी इस उपलक्ष में कर डालता है और फिर आगे आने वाली पीढ़ियां इसमें नई रचनात्मकता जोड़ते हुए त्यौहार व समारोहों को आगे लेकर बढ़ते रहते हैं और इस तरह ये दिन ये त्यौहार हमारी सांस्कृतिक व साझी विरासत का रूप ले लेता है। कभी-कभी तो इस प्रकार के दिवस किसी निश्चित भू-भाग या देश के होकर रह जाते हैं परन्तु कभी-कभी ये विश्व स्तर पर भी फैल जाते हैं। 'मई दिवस' विश्वस्तर पर फैला हुआ दिन है।

कुछ समय बाद 'मे डे' को कैथोलिक चर्च द्वारा पाबंदी लगा दी गई लेकिन फिर भी वहां के खेतिहर तबके 'किसान' द्वारा इसे अठारहवीं शताब्दी के अंत तक मनाया जाता रहा।

मई दिवस का जो वर्तमान स्वरूप है यानि कामकाजी (मजदूर) तबके की खुशियों या त्यौहार का दिन, उसकी शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हुई। पहली मई, 1886 को अमरीका और कनाडा में कर्मचारियों के लिए काम के आठ घंटे सुनिश्चित करने की मांग को लेकर जगह-जगह प्रदर्शन और हड़तालें हुई। शिकागो में पुलिस ने हड़ताली कर्मचारियों पर गोलीबारी की और उसमें छह लोग मारे गए। उसके अगले दिन पुलिस के खिलाफ एक जबरदस्त प्रदर्शन में एक बम हमला कर आठ पुलिसकर्मियों को मार दिया गया। यह वह ज़माना था जब ट्रेड यूनियनें न केवल अस्तित्व में आ चुकी थीं बल्कि मज़बूत भी होती जा रही थीं।

संगठन : वेतन-भत्ते में बढ़ोत्तरी, कार्यालयों और कारख़ानों में बेहतर स्थिति और काम के सीमित घंटों की मांग ज़ोर पकड़ने लगी थी और मज़दूर संगठन उसके लिए संगठित होने लगे थे। पहली मई, 1886 को लगभग पांच लाख लोगों का एक स्थान पर एकत्र हो, अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठाना एक बड़ी बात थी और फिर उन पर गोलीबारी और उसके बाद हुई मौतों ने लोगों को बड़े पैमाने पर क्षुब्ध कर दिया था। शायद उसी घटना ने मई दिवस को एक वार्षिक समारोह बना दिया।

रूस और अन्य साम्यवादी देशों में यह एक तरह का सरकारी समारोह बन गया। और फिर धीरे-धीरे इस दिन को मजदूर वर्ग की हिमायत और मालिकों को शोषणकारी दिखाने के एक मंच के तौर पर इस्तेमाल किया जाने लगा। वैसे मई दिवस ने अब एक व्यापक स्वरूप ले लिया है। एक समय में जो दिन काम के घंटे तय करने और बेहतर वेतन की मांग तक सीमित था, अब उसमें वैश्वीकरण और पूंजीवाद का विरोध जैसे मुद्दे शामिल हो गए हैं।

भारत तक पहुंच : भारत के कुछ कार्यकर्ता लंदन के हाइड पार्क में 1925 में आयोजित मई दिवस समारोहों में शामिल हुए और समझा जाता है कि उन्हीं के ज़रिए यह अवधारणा भारत पहुंची।

भारत में पहली बार वर्ष 1927 में मई दिवस की शुरुआत मानी जाती है। आज भारत में ट्रेड यूनियन एक मज़बूत संगठन है। सीटू में देश के विभिन्न मज़दूर संघों की भागीदारी है। मई दिवस उनके लिए अपने अधिकारों की आवाज़ उठाने का एक ख़ास मौका है। यह और बात है कि अब इसमें केवल मज़दूरों की समस्याएं ही नहीं बल्कि वैश्वीकरण, प्रदूषण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बढ़ते वर्चस्व जैसे मुद्दे भी शामिल हो गए हैं।

इस तरह से 'मई दिवस' आज सम्पूर्ण विश्व के मजदूरों के लिए एक शुरुआत है। उनके संगठन, उनकी एकता, उनकी मजबूती का प्रतीक और साथ ही विश्व स्तर के पूंजीपतियों को साधे रखने का एक शान्तिपूर्ण औजार जो सभी मजदूरों के लिए उनकी साझी विरासत बनकर उभरती है तथा मजदूरों को पूंजीपतियों के जुल्म के खिलाफ संगठित रखते हुए उनके आत्म विश्वास को और दृढ़ बनाती है।

साझी विरासत का एक स्तंभ

नज़ीर अकबराबादी

■ फ़िराक़

कवि के बारे में कई साहित्य-प्रेमियों की धारणा और कल्पना प्रायः ऐसी रही है कि कवि इस हलचल से भरी हुई दुनिया, आबादी की भीड़-भाड़, घरों, मुहल्लों, बाज़ारों और मेलों-ठेलों के शोर-ओ-गुल से बिल्कुल अलग रहकर एक सुंदर कल्पित संसार में रहता है। धरती के मैदानों, जंगलों, आबादियों में अगर रहता भी है तो एकांतवासी के तौर पर रहता है। यह धारणा और कल्पना उन कवियों के संबंध में कुछ गलत नहीं है जो अपने ही भावों और हृदय के उद्गारों में निमग्न रहते हैं, लेकिन अगर हम संसार के महाकवियों को देखें तो उनमें से शायद एक आध को छोड़कर सभी जीवन की हलचल, जीवन की रंगारंगी, जीवन की भीड़भाड़, जीवन के प्रकार और आए दिन के व्यवहारों से घनिष्ठ संबंध रखने का सबूत देते हैं। इन महाकवियों की चेतना, कल्पना और उनका जीवन खान-पान नहीं होता। ये महाकवि ऊँचे कलाकार होते हुए भी बड़े सांसारिक और दुनियादार होते हैं। इनकी असाधारण प्रतिभा का भेद साधारण जीवन से उनके प्रेम और इस जीवन से उनके तादात्म्य में छुपा होता है। ये महाकवि दुनिया से अलग नहीं रहते और न दुनिया उनसे अलग रहती है। ये दुनिया में रहते हैं और दुनिया इनमें रहती है। ये दुनिया के होते हैं और दुनिया इनकी होती है। एक दिव्य अर्थ में ये महाकवि बड़े साधारण, बड़े मामूली लोग होते हैं। दुनिया उनसे हँसती-बोलती है और ये दुनिया से हँसते-बोलते हैं। दुनियावी जीवन में ये डूबे रहते हैं और इसी भवसागर में नहा-नहाकर और गोते लगा-लगाकर अमर कविता के मोती हमारे लिए निकाल लाते हैं।

नज़ीर अकबराबादी भी दुनिया के रंग में रँगे हुए एक महाकवि थे। उनकी कविताओं में रहती दुनिया हँसती-बोलती, जीती-जागती, चलती-फिरती और जीवन का त्योहार मनाती हुई नज़र आती है। नज़ीर की कविताओं में उनके समय का जीवन, हर स्तर, हर वर्ग, हर तरह, हर रंग, हर ढंग, हर अवस्था, हर स्थिति का जीवन इतने भरपूर ढंग से अपनी पूरी गतिशीलता के साथ और इतने स्वाभाविक और सजीव रूप में चित्रित हुआ है कि भाषा, संस्कृति, संप्रदाय, जाति-धर्म-सब भेद मिट गए हैं और नज़ीर एकमात्र ऐसे कवि माने गए हैं जिन्हें उर्दू और हिंदी वालों ने किसानों, मज़दूरों, मध्यमवर्ग, उच्च वर्ग, बच्चों-जवानों, बूढ़ों, स्त्रियों और पुरुषों - सबने समान रूप से अपनाया। राम-रहीम एक हों या अनेक, हिंदू-मुसलमान एक जाति हों या दो जातियाँ, हिंदी-उर्दू एक भाषा हों या दो भाषाएँ; सौ बातों की एक बात यह है कि सब भेद-भाव समेत जनता एक है और हमारा रंगारंग समाज एक अखंड अछेद और अभेद समाज है। इसका बोलता हुआ सबूत नज़ीर अकबराबादी की लगभग पचास हज़ार पंक्तियों में फैली हुई वो कविताएँ हैं जिनमें हमारे जीवन की चहकार सुनाई देती है।

नज़ीर का कोई कलाम या उनकी कोई बानी ऐसी नहीं जिसमें कुछ 'छल बल' न हो। कोई 'रँगीलापन' न हो और एक क़िस्म की 'ऐंड' मौजूद न हो। नज़ीर ने इस तमाम लक्षणों और गुणों के मेल को चुटकुलेबाजी कहा है। चुटकुलेबाज़ हमारे समाज का वह व्यक्ति है जो बच्चों से लेकर बूढ़ों तक, ग़रीबों से लेकर अमीरों तक हर उम्र और हर तबके की महफ़िल में अपनी जगह पैदा कर लेता है, जो कभी 'बारे ख़ातिर' नहीं, बल्कि हमेशा 'यारे शातिर' साबित होता है और जिसकी हस्ती तकल्लुफ और बनावट से बिलकुल पाक होती है। उसकी ज़िंदगी का आशावादी पहलू हमेशा सबकी नज़रों के सामने रहता है। वह खुद हँसे या न हँसे, लेकिन दूसरों के दिल की कली खिला देता है। वो एक अहला-गहला और चौंचाल, लेकिन अहानिकर व्यक्ति होता है कि उससे सब मुहब्बत करते हैं। मत-मतांतरों की संकीर्णता से वह हमेशा अलग रहता है। वह एक निहायत दिलचस्प क़िस्म का हँसमुख आदमी होता है जो दुनिया को दूसरों की निगाहों से देखने का ज़्यादा अभिलाषी होता है। समाज के अंदर अपने को जज़्ब करके अपने व्यक्तित्व को भी सामूहिक चीज़ बना देता है। दूसरों के साथ घुल-मिलकर ज़िंदगी बसर करना उसका लक्ष्य होता है और दिल पर चोटें खाने के बाद भी हर वक़्त मुसकराते रहना उसका स्वभाव और व्यवहार होता है। उसकी तबीयत की रंगीनी सीखी सिखाई चीज़ नहीं होती,

बल्कि सरासर स्वाभाविक होती है और इसीलिए वह कभी मौके पर चूकता नहीं और होंठों पर आई हुई बात को रोकता नहीं। बोली-ठोली, ज़िला-जुगत, फब्ती, फ़िक़राबाज़ी और बात-से-बात पैदा करने की उसमें असाधारण क्षमता होती है। महफ़िल का जो रंग होता है उसी में वो डूब जाता है। ऐसा आदमी अज़ान और शंख, दोनों की आवाज़ों से मुहब्बत करता है। उसकी ज़िंदगी क़हक़हा, हमहमा, ज़िंदादिली की तसवीर होती है और उसकी मुसीबतें भी एक ऐसा रंगीन असर छोड़ जाती हैं कि उसकी मौत भी ज़िंदगी का नया अनुभव करा देती है।

विद्वान् समालोचक योरोपीय डॉक्टर फ़ेलन जिन्होंने उर्दू भाषा और साहित्य का गहरा अध्ययन किया था, कहते हैं कि नज़ीर ही एक शायर है जो अंग्रेज़ों की कसौटी पर सच्चा उतरता है। उसकी शायरी ने जनसाधारण के दिलों में राह की है, उसकी कविताएँ सड़कों, खेतों और गलियों में गाई जाती हैं। वह एक आज़ाद आदमी था। वो कुछ चाहता ही न था। सौभाग्य-दुर्भाग्य उसके लिए बराबर थे जैसा उसने खुद कहा है कि वो अपनी खाल में मस्त था। वह आला दर्जे का साहित्यिक चित्रकार और आविष्कारी, विचारक और जगत का दोस्त था। इनसानियत से उसकी गहरी हमदर्दी थी। वह हर चीज़ में खूबी पाता था।

अच्छे भी आदमी ही कहाते हैं ए नज़ीर
और सबमें जो बुरा है सो है वो भी आदमी

उसके दिल-ओ-दिमाग़ की सफ़ाई और उसकी तहरीर की लताफ़त इस दर्जे की है कि जब वो कोई फ़हश (अश्लील) ख़याल भी पैदा करता है तो उस पर इस लताफ़त के साथ परदा डाल देता है कि उसकी अश्लीलता खटकती नहीं। इतना जानदार कलाम, इतना शोख़ और चंचल कलाम दुनिया के बहुत कम शायरों के यहाँ मिलता है। अंग्रेज़ी में ऐसा काम चॉसर और शेक्सपियर कर सके हैं। उसे अपने ऊपर इतना भरोसा था कि शब्दों को नये साँचे में ढाल देता है। वह हिंदुस्तान के इने-गिने सबसे बड़े यथार्थवादी कवियों में है।

डॉक्टर फ़ेलन की राय आप सुन चुके हैं। अब नज़ीर की बानी की कुछ और विशेषताएँ सुनिए। नज़ीर जीवन और प्रकृति के अध्ययन का बादशाह है। मसलन होली हिंदुओं का त्योहार है। जब नज़ीर होली को देखता है तो उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंशों पर निगाह डालता चला जाता है। बरसात का दृश्य देखिए। आसमान पर भूरे बादल, ऊदी बदलियाँ, काली घनघोर घटाएँ, पपीहे का ज़ोर, मोर का शोर, हवा का चलना, पेड़ों का लहलहाना, हरियाली से तमाम जंगल में मख़मली फ़र्श बिछ जाना, झीलों, तालाबों, डबरों का लबालब होना - सब चीज़ें ऐसी हैं जिनसे हम प्रभावित होते हैं। मगर नज़ीर और आगे बढ़ जाता है। वह मुहल्लों और मकानों की दीवारों में पड़ी हुई दरारों को भी देखता है। फिसलन की भी तसवीर खींचकर रख देता है। छतों का टपकना, मकानों का गिरना, धुआँ, उमस, मुफ़लिस, ग़रीब, हाथी सवार, पालकी नशीन, पियादा, सवार, नौकर, मालिक - सबको फिसला देता है और कीचड़ में गिरने की ऐसी-ऐसी तसवीरें खेंचता है कि मज़ा आ जाता है। नज़ीर की कला और कल्पना के लिए कोई विषय तुच्छ नहीं था। जैसे हवा स्वतंत्र है वैसे ही नज़ीर भी कहीं बंद नहीं है। मच्छर, खटमल, साँप का बच्चा, गिलहरी, कबूतर, बये का बच्चा, पतंगबाजी, तैराकी, चूरन, खोंचेवाले, रीछ का बच्चा, तरबूज़, ककड़ी, छोटे मकान, बड़े मकान, नालों और नाबदानों से लेकर जमुना का विस्तार, कृष्ण की बाँसुरी, अनगिनत मेले, रंगारंग पेशे और व्यवसाय क्या है जिसे नज़ीर की क़लम ने सजीव करके नहीं दिखा दिया। जीवन से इस कवि का कितना अगाध प्रेम था ! हिंदू त्योहारों पर तो ऐसी कविताएँ हिंदी में भी कम ही मिलेंगी।

एक और बात कहने की है, लेकिन है बहुत सँभलकर कहने की। वो यह कि जो स्निग्धता, सुकुमारता, लालित्य, कल्पना की सूक्ष्म और नाजुक गति, जो बनाव और रचाव, जो नज़ाकतें और लताफ़तें, शैली की जो सजावटें, जो अलंकृत रूपरेखा हम अनेक महान साहित्यिकों में पाते हैं वह नज़ीर के यहाँ नहीं पाते। लेकिन यह बात ऐसी ही है कि जितनी सुसज्जित कला कालिदास और भवभूति की है उतनी आदिकवि वाल्मीकि की नहीं है। या फ़िरदौसी के यहाँ हाफ़िज़ की सतरंग कला नहीं है या चॉसर के यहाँ शेक्सपीयर का रस, रंग और संगीत नहीं है। या होमर के यहाँ मिलटन की बातें नहीं। या मलिक मुहम्मद जायसी के यहाँ तुलसीदास की सुकोमल कला नहीं। कला में ये अलंकार किसी भाषा के बहुत विकसित हो जाने के बाद पैदा होते हैं। एक उर्दू कवि कहता है :

वो लड़कपन के थे दिन और ये जवानी की बहार
पहले भी रुख़ पर तेरे तिल था मगर क़ातिल न था

नज़ीर की बानी के मुख पर जो तिल है वो अनीस, चकबस्त, अकबर, इक़बाल और जोश मलीहाबादी के कलाम के मुख पर क़ातिल बन गया है। नज़ीर ने उर्दू भाषा के बचपन या लड़कपन के दिनों में अपनी रचनाएँ की हैं। वह ठेठ उर्दू लिखता है। लेकिन ठेठपन और सादगी के बावजूद ये उर्दू कितनी जादूभरी है। दाग़ का शेर याद आता है -

भर दी हैं क्या अदाएँ उस शोख़ सीमतन में
एक टेढ़ सादगी में एक सीध बांकपन में

यही है नज़ीर की शैली और भाषा-कला। अंग्रेज़ी के आदिकवि चॉसर के बारे में उसके मरने के तीन सौ बरस बाद अपने समय के सबसे बड़े अंग्रेज़ी कवि और साहित्यकार ड्राइडेन ने कहा था कि यहाँ (चॉसर के यहाँ) हम सचमुच परमात्मा की देन या सृष्टि की प्रचुरता देखते हैं (Here indeed we have

God's plenty). बिलकुल यही बात हम नज़ीर अकबराबादी के बारे में कह सकते हैं। और यह बात या इतनी बड़ी बात हम उन उर्दू कवियों के बारे में भी नहीं कह सकते जिनका अभी हमने नज़ीर के साथ नाम लिया है और जिन्होंने दृश्य चित्रण या दृश्य वर्णन में नज़ीर की रूपरेखाओं को और चमकाया या और काव्यात्मक बनाया। विषय प्रचुरता और वर्णन में अनेक अंशों और हिस्सों को कविता में उभारने का जहाँ तक संबंध है अनीस, हाली, अकबर, इक़बाल कोई नज़ीर की गर्द तक को नहीं पहुँचता। अगर नज़ीर के क़रीब कोई पहुँचता है तो 'जोश' मलीहाबादी। उर्दू के किसी कवि को मजमूई हैसियत से नज़ीर से बड़ा मानने या बड़ा बताने का साहस गंभीर समालोचक नहीं कर सकता। यह भी याद रखना चाहिए कि अनेक अवसरों पर नज़ीर विद्वत्तापूर्ण भाषा और शब्दावली या शैली में मीर, ग़ालिब, इक़बाल और 'जोश' से ज़रा भी नीचे या पीछे नहीं रहता। लेकिन उसकी दिव्य साधारणता प्रायः उसकी शैली को रंगारंग बोली-ठोली के स्तर से ऊपर नहीं उठने देती। नज़ीर की बानी, नज़ीर की कला, नज़ीर का काव्य-संसार एक कभी न समाप्त होने वाला अखंड रास-लीला है जिसमें बराबर अबीर, गुलाल, रंग, तरंग, थाप, झंकार दिखाई और सुनाई देते हैं। ऐसी सदाबहार और सदा सुहाग शायरी विश्व-साहित्य में बहुत अधिक नहीं मिलती।

कविता को जीवन की समालोचना बताया गया है। ये समालोचना प्रायः जीवन के चित्रण के रूप में होती है और समालोचनात्मक उक्तियाँ इस चित्रण में कहीं-कहीं और कभी-कभी आती हैं। नज़ीर महात्मा या दार्शनिक या ऋषि-मुनि की पगड़ी बाँधकर हमारे सामने नहीं आता। वह एक साधारण दोस्त, पड़ोसी और समकालीन नागरिक की हैसियत से हमसे बातें करता है। वो इनसानियत की कमज़ोरियों से हमदर्दी करता है। वो सहृदय मित्र बनकर हमारा मनोविनोद करते हुए जीवन की भीड़-भाड़ में हमारे गरदनों में हाथ डालकर हमें घसीट लाता है और हँसी-छेड़ में जीवन पर समालोचना भी कर जाता है। उसकी चुटकुलेबाजी में कभी नर्म और कभी तेज़ चुटकियाँ छुपी हुई होती हैं और इन्हीं चुटकियों में, चेतना की इसी गुदगुदी में नज़ीर की जीवन समालोचना व्यक्त होती है। उसके यह हँसमुख सख्यभाव और व्यवहार, उसकी यह यारी उसके जीवन की समालोचना है। हम जितना महात्माओं से सीखते हैं उससे कहीं अधिक अपने जैसे साधारण लोगों से सीखते हैं। नज़ीर की असाधारण साधारणता, उसकी प्रतिभा की कसौटी और दर्पण है। यही मानवीय स्पर्श नज़ीर को हमारे सामूहिक जीवन का एक सजीव अंश बना देता है। नज़ीर शेक्सपीयर तो नहीं हैं, लेकिन उसी बिरादरी के शायर हैं। दोनों ने वही किया है जिसे शेक्सपीयर कहता है to hold the mirror up to nature अर्थात् प्रकृति को आईना दिखाना।

कहा जाता है कि मियाँ नज़ीर सन् 1735 ईस्वी में आगरे में पैदा हुए। जब उन्होंने होश सँभाला तो आगरे के अरबी-फ़ारसी के प्रसिद्ध शिक्षकों और आचार्यों से तालीम हासिल की। एक रवायत यह भी है कि नज़ीर आगरे में नहीं दिल्ली में पैदा हुए थे। यह वह जमाना था जब मुग़ल साम्राज्य का सितारा डूब रहा था। सन् 1757 में जब अहमदशाह अब्दाली ने चढ़ाई की तो नज़ीर 22-23 साल की उम्र में अपनी माँ और नानी के साथ दिल्ली छोड़कर अपने पुराने वतन आगरे में मिठाई वाले पुल के पास आ के आबाद हो गए। जवानी रंगरलियों में कटी। पचीसी, जुआ, गंजफा, चौसर, शतरंज, कबूतरबाजी, लाल लड़ाना, पतंगबाजी, तैराकी, लकड़ी या चटकी डाड़ या पटेबाजी और नज़रबाज़ी ये थे उनके जवानी के मशगले। हिंदू त्योहारों में बहुत दिलचस्पी लेते थे और दिल-ओ-जान से लुत्फ़ उठाते थे। ये वो वक़्त था कि हिंदू और मुसलमानों में कोई बेगानगी न थी। नज़ीर मुक़ामी सभ्यता और संस्कृति में रँग गए थे। जवानी ऐसे ही झमेलों और मेलों-ठेलों में गुज़री। एक औरत जिसका नाम मोती था जिसे नज़ीर मोती के नाम से याद करते हैं उसे दिल दे बैठे थे। जब वो 28 वर्ष के हुए तो जाटों ने आगरा लूट लिया और वहाँ अपना राज स्थापित करके जनता को बहुत सताया। नज़ीर भी लुट गए। अब रोज़ी कमाने की फ़िक्र हुई। विद्या की दौलत तो छिन नहीं सकती थी। मकतब पढ़ाने लगे। लाला विलास राय खत्री से राह-रस्म हो गई। उन्होंने नज़ीर को सिर-आँखों पर बिठाया और अपने बच्चों को पढ़ना-लिखना सीखने के लिए उन्हें सौंप दिया। लाला विलास राय खत्री का परिवार अब तक आगरे में आबाद है या आबाद रहा है।

मुहल्ला ताजगंज से टट्टू पर सवार होकर कहीं जा रहे थे। टट्टू के चाबुक मारा तो एक राहगीर के लग गया। नज़ीर इतना पछताए कि उसी दिन से बे-चाबुक के टट्टू पर सवार होने लगे। नवाब वाजिदअली शाह ने उनके पास बहुत सा रुपया भेजकर बुलाया। इतने रुपये आने से उन्हें रात भर नींद न आई। कहने लगे कि अदना ताल्लुक़ से तो इतने तरद्दुद हैं जब पूरा ताल्लुक़ होगा तो खुदा जाने क्या हाल हो। फेंको इस रुपये को। रुपये वापस कर दिए और लखनऊ न गए।

मियाँ नज़ीर राह चलते नज़्में कहा करते थे। शहर आते हुए टटुआनी कुछ ऐसी सध गई थी कि किसी ने मियाँ को सलाम किया और वो ठहर गई। कुंजड़ा मिला, उसने कहा मियाँ ककड़ी पर भी कुछ कह दो। फ़कीर बोला कोई क़िस्सा कह दीजिए कि उसे गा-गा के भीख माँगूँ। एक बार चंद औरतों ने रोक लिया और तक़ाज़ा किया हम हमारे लिए कुछ कह दो। उन्होंने बहुत टाला, मगर वो काहे को मियाँ को छोड़तीं। मज़बूर होकर उनके नाम पूछे। एक ने कहा 'जमुना', दूसरी ने कहा 'गंगा'। नज़ीर बोले :

यारब मेरी दुआ को जल्दी क़बूल कीजे

जमुना में लगा बल्ली गंगा को पार कर दे

कनारी बाज़ार जाते हुए कोठे पर से एक रंडी ने कहा कि मियाँ हमको अपना कलाम सुनाओ। गाएँगे और कमायेंगे। नज़ीर ने फ़ौरन कहा :

लिखें हम ऐश की तख़्ती पै किस तरह ऐ जां
क़लम ज़मीन के ऊपर दवात कोठे पर

वो झेंपकर चुप हो गई।

मियाँ नज़ीर में नम्रता बहुत आ गई थी। जिस मजलिस में बैठते अपने शिष्टाचार के कारण चराग़ मालूम होते। अधेड़ उम्र में शादी कर ली थी और मोरी दरवाज़ा उठ आए थे जहाँ एक छोटा सा मकान बना लिया था। तमाम उम्र उसी में रहे और उसी में सुपुर्दे खाक़ हुए।

मीठे चावल और खिचड़ी बहुत पसंद थी। नीबू का अचार, गुलगुले, चिल्ले, फलों में मऊ का ख़रबूजा, आम, शरीफा, अपनी-अपनी फ़सिल पर शौक़ से खाते। दावत में कम जाते। एक रोज़ कुछ लोग उनके घर पहुँचे, कुंडी खटखटाई। थोड़ी देर में देखते क्या हैं कि मियाँ नज़ीर ने दरवाज़ा खोला तो तमाम बदन पर आटा और चोकर का गुबार लगा हुआ है। सबने पूछा मियाँ ख़ैर तो है ! बोले, तुम्हारी भावज बिगड़ बैठी हैं। आटा कौन पीसता ?

रोटी कौन पकाता ? सोचा खुद ही आटा पीसकर रोटी डाल लूँ कि इतने में तुम लोग आ गए। सबने कहा तुम अपना काम कर चुके, अब हम अपना काम किए देते हैं। सबने मिल-जुलकर खाना पकाया और खुद भी खाया। और 'रूठी भावज' यानी मियाँ नज़ीर की बीवी को मनाकर खिला-पिला दिया। सन् 1830 में जब नज़ीर 95 वर्ष के थे, उन पर फ़ालिज गिरा। अब मकतब पढ़ाना नामुमकिन हो गया। बेटे को बुलाया और कहा भइया अब तुम इस मकतबदारी का काम सँभालो, वरना कहाँ से गुज़ारा होगा। वो बोले कि मैंने गुलिस्तां बोस्तां से आगे फ़ारसी नहीं सीखी। कठिन किताबें कैसे पढ़ा सकूँगा। नज़ीर लड़खड़ाई हुई आवाज़ में बोले, जाओ मियाँ खुदा का नाम लो पढ़ाओ। ये पढ़ाने लगे और इस काम में सफल हुए। 16 अगस्त, 1830 को नज़ीर का देहांत हुआ। जनाज़े की नमाज़ दो मरतबे पढ़ाई गई। सुन्नियों ने अलग पढ़ी, शियों ने अलग। हज़ारहा हिंदू-मुसलमान ज़नाज़े में शरीक हुए। अपने मकान ही में दफन किए गए जहाँ सालाना उर्स होता था। गाना-बजाना होता था। और यह मेला रात भर होता था। अब भी होता है, लेकिन अब बहुत कमी पर है। भारत में जिस नये सांस्कृतिक जागरण के चिन्ह उभर रहे हैं उससे यह आशा बँधती है कि नज़ीर अकबराबादी का स्मारक उनकी कृतियों के अनुसार बनेगा और यह मेला और उत्सव हर साल हिंदी-उर्दू प्रेमी लाखों की संख्या में धूमधाम से मनाएंगे।

साभार : नज़ीर की बानी

धार्मिक संकीर्णता के परे

नज़ीर अकबराबादी

हजरत अली का चमत्कार

सुनते हो ए अली के मुहिब्बाने-दोस्तदार[1]
इक मोजज़ा[2] मैं कहता हूँ उस शह का आशकार[3]
है ताज़ा वारदात ये अज़ नक़ले रोज़गार[4]
था कोई शख़्स दौलतो-ओ-हशमत[5] में नामदार
इक रोज़ वो गया था कहीं खेलने शिकार

कविता का एक छोटा अंश

गुरु नानक की वंदना

हैं कहते नानक शाह जिन्हें वो पूरे हैं आगाह[1] गुरु
वो कामिल रहबर[2] जग में हैं यूँ रोशन जैसे माह[3] गुरु
मक़सूद, मुराद, उमीद सभी बर लाते हैं दिलख़ाह[4] गुरु
नित लुत्फ़-ओ-करम से करते हैं हम लोगों का निर्वाह गुरु
इस बख़्शिश के इस अज़मत[5] के हैं बाबा नानक शाह गुरु
सब सीस नवा अरदास[6] करो और हर दम बोलो बाह गुरु

कविता का एक छोटा अंश

महादेवजी का ब्याह

पहले नाँवँ गनेश का लीजे सीस नवाय
जासे कारज सिद्ध हों; सदा महूरत लाय
बोल बचन अनन्द के पेम[1] पीत और चाह
सुन लो यारो ध्यान धर महादेव का ब्याह
जोगी जंगम से सुना वो भी किया बयान
और कथा में जो सुना उसका भी परमान
सुनने वाले भी रहें हँसी-खुशी दिन-रैन
और पढ़े जो याद कर उनको भी सुख-चैन
और जिसने इस ब्याह की महिमा कही बनाय
उसके भी हर हाल में शिवजी रहें सहाय
खुशी रहे दिन-रात वो कभी न हो दिलगीर
महिमा उसके भी रहे जिनका नाम 'नज़ीर'

कविता का एक छोटा अंश

संदर्भ

हजरत अली का चमत्कार–1. अली के प्रेमी, 2. चमत्कार, 3. उद्‌घाटित प्रकट, 4. सुनी-सुनाई, 5. धन-संपत्ति

गुरु नानक की वंदना–1. ज्ञानी, 2. पूर्ण पथ प्रदर्शक, 3. चाँद, 4. मनचाहा, 5. महानता, 6. वंदना।

महादेवजी का ब्याह–1. प्रेम।

न किसी की आँख का नूर हूँ...

लगता नहीं है जी मेरा उजड़े दयार में
किसकी बनी है आलमे-ना पायदार में
बुलबुल को बाग़बां से न सय्याद से मिला
क़िस्मत में क़ैद थी लिखी फ़स्ले-बहार में
कहदो इन हसरतों से कहीं और जा बसें
इतनी जगह कहां है दिले दाग़दार में
एक शाख़े-गुल पे बैठ के बुलबुल है शादमां
कांटे बिछा दिए हैं दिले-लालज़ार में
उम्रे-दराज़ मांग के लाए थे चार दिन
दो आरज़ू में कट गए दो इंतिजार में
दिन ज़िंदगी के खतम हुए शाम हो गई
फैला के पांव सोएंगे कुंजे मज़ार में
कितना है बदनसीब जफ़र दफ़न के लिए
दो गज़ ज़मीं भी मिल न सकी कूए-यार में

--बहादुरशाह ज़फ़र

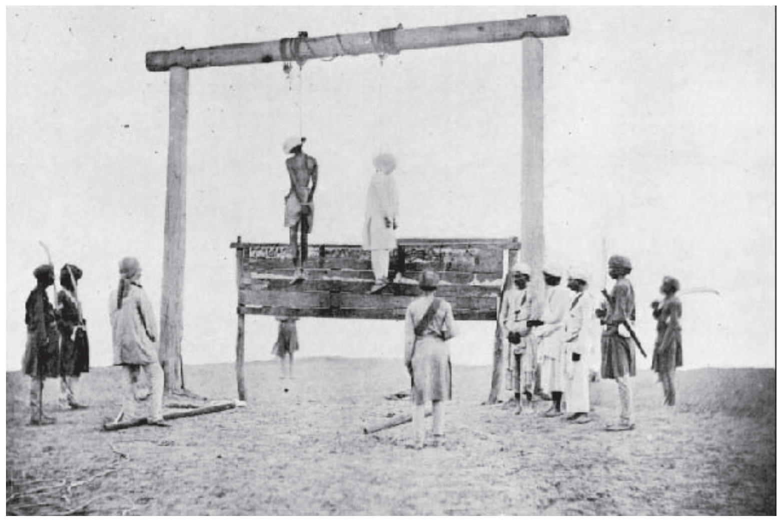

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067
टेलीफोन 011-26196356, टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए